॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्-भागवत-संहिता

प्रथम–स्कन्ध

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-चरण विरचित श्रीसुबोधिनी व्याख्या

द्वितीय अध्याय

भागवत कथा एवं भगवद्-भक्ति के माहात्म्य का अनुवादात्मक विवेचन

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में, दो कारिकाओं द्वारा संगति का तथा अध्याय का निरूपण किया गया है—

कारिका– कथाश्रवणभावेन मनोरथमहार्णवे ।
निमग्नान्सूतदानेन ह्युज्जहार ऋषीन्हरिः ॥१॥
फलसाधनरूपाणां निर्णयः कर्मणामपि ।
त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये द्वितीयेऽन्यत्र शेषिणाम् ॥२॥

कारिकाऽर्थ—भगवत्कथा-श्रवण में प्रेम भाव के कारण कथा श्रवण रूप अपने मनोरथ के महासमुन्द्र में डूबे हुये शौनकादि ऋषियों को सूत पौराणिक का वक्ता के रूप में उनको दान देकर भगवान् श्रीहरि ने उद्धार किया– इसका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय में, फल और साधन के प्रकारों का तथा कर्म का भी– इन तीनों का निर्णय किया जायगा। तत्पश्चात् बाकी बचे हुये रामादि अवतारों का उनके प्रयोजन का तथा अवतारी श्रीकृष्ण का निरूपण तीसरे अध्याय में किया जायेगा।

प्रथममुत्तराणि वक्तुं देवतागुरुनमस्कारं मङ्गलमभिनन्दनञ्च सूतः करोतीति व्यास आह—

शौनकादि द्वारा इससे पूर्व में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के पहिले सूत, यहां देवता और गुरु का नमस्कारात्मक मङ्गला-चरण करते हैं- और यही बात श्री व्यास निम्न श्लोक से कहते है-

व्यास उवाच—

श्लोक- इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः स विप्रै रौमहर्षणिः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ।।१।।

श्लोकाऽर्थः—इस प्रकार शौनकादि ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मविषयक प्रश्नों के पूछे जाने पर सूतने, उनके वचनों की प्रशंसा करके कहना प्रारम्भ किया ।

सुबोधिनी—इति सम्प्रश्नेति । एवं पुरुषार्थपर्यवसायिभिः सम्प्रश्नैः सम्यग्ब्रह्मविषयकैः प्रश्नैः सम्यगादरपूर्वकं पृष्टः । **विप्रैरिति** । प्रा पूरणे । विशेषेण वक्तारमात्मानं वा भक्त्या पूरयन्तीति विप्राः । अवश्यं तेषां वचने उत्तरं देयमिति **रौमहर्षणिः** । रोमहर्षणस्याऽपत्यं रौमहर्षणि रोमसु सर्वदा हर्षणं यस्य तस्य सर्वदा भक्त्युद्रेकः । तथैवाऽयमिति ज्ञापयति । **प्रतिपूजन**मभिनन्दनम् । सामान्यतस्तद्ग्रन्थाद्बहिरिति ज्ञातव्यम् । क्रमानुरोधात् । अग्रे त्वभिनन्दनं सामान्योत्तरत्वेन ज्ञातव्यम् । **प्रवक्तुमिति** । स्वबुद्धचा निर्द्धारितार्थं भागवतं च वक्तुमुपचक्रमे ।।१।।

सुबोधिनी अर्थं—इस तरह विप्रों ने, सूत से, पुरूषार्थ से सम्बन्धित ब्रह्म विषयक प्रश्नों को पूछा । विप्रैः में प्रा धातु का भी अर्थ है पूर्ण करना- वि उपसर्ग है अर्थात् विशेष करके जो वक्ता को तथा स्वयं को भी भक्ति से परिपूर्ण करता हो उसे विप्र कहते हैं । तदनुसार विप्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना ही चाहिये । रौमहर्षणिः—भक्ति के निरंतर उद्रेक से जिसके रोम रोम मे हर्ष व्याप्त रहता हो । उसको 'रोमहर्ष' कहते हैं- रोम हर्ष के पुत्र सूत पौराणिक उग्रश्रवाभी निरंतर भक्तिउद्रेक वाले है- यही निर्देश करने के लिये इनको यहां रोमहर्ष के पुत्र रौम हर्षणि- ऐसा कहा गया है ऐसे रौमहर्षणि ने शौनकादिकों के वचनों का अभिनंदन किया- अर्थात् उनके वचनों की सामान्यतया प्रशंसा की, और यह प्रशंसा, प्रस्तुत क्रम के अनुरोध से ग्रंथ के बाहर ही कि गयी है, क्योंकि अग्रिम प्रसंग में जो प्रशंसा करेंगे, वह सामान्य रूप से उत्तर देने के उपरांत ही करेंगे- ऐसा समझना चाहिये । प्रवक्तुं- अर्थात् अपनी बुद्धि से निर्धारित किये गये अर्थ को तथा भागवत को कहना प्रारम्भ किया ।।१।।

आभास : देवतागुरुनमस्कारं च कृतवान् । तत्राऽऽदौ गुरुनमस्कारमाह द्वाभ्यां वैराग्यज्ञा-

नाभ्याम् । तत्र प्रथमं वैराग्यमाह—

आभासार्थ : भागवत-कथानारम्भ से पहिले–देवता तथा गुरु को नमस्कार किया गया है- तदनुसार प्रथम गुरु को, उनके ज्ञान और वैराग्य के निरूपक दो श्लाकों द्वारा-नमस्कार करते हैं- यहां प्रथम उनके वैराग्य का कथन किया जाता है

श्लोक- यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।।२।।

श्लोकार्थं : उपनयन संस्कार को प्राप्त किये विना ही जिसके कर्म-मात्र निवृत्त हो गये हैं और इसीलिये दुःसंग के भय से वेग पूर्वक दूर दूर चले जाते हुये श्री शुक को विरह से कातर उनके पिता श्री व्यास ने हे पुत्र ! इस तरह पुकारते हुये जब बुलाया तब स्वयं ब्रह्मरूप होने के कारण ब्रह्म मे अपनी तन्मयता के कारण-श्रीशुक ने उनको उत्तर नहीं दिया । किन्तु श्री शुक की ओर से शुक में अपनी तन्मयता के कारण वृक्षों ने ही श्री व्यास को उत्तर दिया !!! ऐसे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय को प्रेरणा देने वाले ब्रह्म-चिंतन परायण श्री व्यास पुत्र श्री शुकदेव मुनि को मैं सर्वप्तः प्रणाम करता हूं ।।२।।

सुबोधिनी–यं प्रव्रजन्तमिति । अत्र हि यथा यथा विरक्तस्तथा तथाऽधिकारी । तत्र शुकस्य पूर्वजन्मन्येव ज्ञानसहितत्वाद्योग्यदेहार्थं विष्णोर्व्यासस्य सकाशाद्देहं प्राप्य उभयसम्पत्तौ सङ्गेन ज्ञाननाशभयात्पूर्वसंस्कारस्य दृढत्वादिदानीमनुपनीत एव प्रव्रजति । व्यासस्याऽधिकारित्वाद्देहादिधर्माः प्रवर्तन्ते । इदं प्रव्रजनं नाऽऽश्रमः । किन्तु सङ्गभयाद्गमनमात्रम् । तदनुचितमिव मत्वा निवर्तनाय व्यासस्य गमनम् । भगवद्धर्मेषु हृदयं प्रविष्टेषु हि भयं निवर्त्तते । बलिष्ठस्य हि भयाभावः । बलं भगवत एवेति कोपादिना गमनं वारयति-**प्रेति** । निवारणे हेतुः-**अनुपेतमिति** । गमने हेतुः—**अपेतकृत्यमिति** । कार्ये विद्यमाने ह्युपनयनम् । विष्णोः सकाशाज्जातस्य देहस्य पुनः संस्कारो नाऽपेक्ष्यते । मोहे हेतुः— **द्वैपायन इति** द्विर्गता आपो यत्र तद्वीपमयनं जन्मस्थानं यस्य । यमुनान्तर्जले तथोत्पन्नत्वात् । पराशरध्यातभगवदवतारात्सर्वं सुस्थम् । नारदोपदेशात्पूर्वं विस्मृतात्मत्वाद्विरहकातरः । विरहेणकातरो दीनः पुत्रेत्याह्वानं कृतवान् । प्रेम्णा सन्नकण्ठत्वात्प्लुताऽभावः ततः सन्धिः । **"स सर्वमभवदि"** ति ब्रह्मज्ञाने फलस्योक्तत्वात्सर्वभावः स्फुरति । योगेन प्रवेशोऽपि सम्भवति । कर्तुः प्राधान्येऽपि यच्छब्देन कर्मसम्बन्धात्तच्छब्देन कर्मैवोच्यते इति । तन्मयतया शुकमयतया । विष्णोः सकाशादुत्पन्नास्तरवः शुकोऽपि । **"वैष्णवा वै वनस्पतय"** इति श्रुतेरेकोपादानकत्वात्तन्मयत्वम् । अभिनन्दनं प्रतिध्वनिरूपम् । अथवा । **"वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमद्यज्ञायाऽऽतिष्टमाना । सा वनस्पतीन्याविशत्सैषा वाग्वनस्पतिषु वदती"** ति श्रुतेर्वृक्षेभ्य एव शब्दोत्पत्तिः । तेषां कथने हेतुं वदन्

शुकस्य ब्रह्मभावमाह—**सर्वभूतहृदयमिति** । सर्वभूतानां हृत् अतते प्रेरयति, प्रेरणार्थं गच्छतीति वा । सर्वभूतेषु हृदयं यस्येति प्रेरणसामर्थ्यं वा । गतस्य तूष्णीम्भावं निवारयति—**मुनिमिति** । ब्रह्मात्मभावं विचारयन्तम् । आ सर्वतो नतोऽस्मि । सर्वत्र तस्य विद्यमानत्वात् ।।२।।

सुबोधिनी अनुवाद:—जिसमें जितना जितना विराग उसको भागवत में उतना उतना ही अधिकार वहां श्री शुक तो पूर्व जन्म से हि ज्ञानी थे । अतः उन्होंने योग्य देह के लिये विष्णु रूप व्यास से देह प्राप्त की । और इस तरह, ज्ञान तथा योग्य देह से– दोनों से– सम्पन्न होकर उन्हें यह विचार हुआ कि कहीं संग से ज्ञान नष्ट हो जाय-इस भय से, और क्योंकि उनमे पूर्व जन्म के संस्कार भी दृढ़ थे, इसिलिये वह यज्ञोपवीत– संस्कार प्राप्त किये विना हि सबकुछ छोड़कर चले जा रहे हैं । और क्योंकि व्यास ज्ञान देने के अधिकारी हैं इसलिये वह देहादिधर्मों से युक्त हैं– उन्हें देहादि का अध्यास है अतः उन्होंने सोचा कि शुक का इस तरह चले जाना सन्यासाश्रम के अनुरूप नहीं है– किन्तु, संग भय से गमन मात्र है तो वह भी अनुचित सा है– और यही मानकर व्यासजी शुक को पीछे लिवालाने के लिये उनके पीछे-पीछे जाने लगे– (अर्थात् संग भय से शुक जो चले जा रहे हैं वह उचित तहीं क्योंकि)– हृदय में भगवद् धर्मों के प्रविष्ट होते ही भय निवृत्त हो जाता है । बलिष्ठ को भय नहीं होता । और बल भगवान् का ही है । श्री शुक के हृदय में, भगवद् धर्मो के प्रवेश होने से, संगादि भय को स्थान ही कहां ? यदि यह कहो कि शुक क्रोधादि के वश होकर चले जा रहे हैं– तो यह कथन भी सुसंगत नहीं । श्लोक के 'प्रव्रजन्तम्'– पद में जो 'प्र' उपसर्ग है, उससे यह सूचित किया गया है कि शुक का यह 'गमन' वैराग्य से है– क्रोधादि से नहीं (क्योंकि 'प्रव्रजन' वैराग्य होने पर ही किया जाता है– यदहरेवविरजेत् तदहरेव-प्रव्रजेत्-प्रव्रज्या को वैराग्य कहते हैं ।)

व्यासजी श्रीशुक को जो पीछे लिवालाना चाहते हैं, उसका कारण यह है कि वह अभी यज्ञोपवीत- संस्कार से संस्कृत ही नहीं हुये । श्री शुक के प्रव्रजन में कारण यह है कि वह सभी कार्यो से मुक्त है । कोई कर्तव्य शेष रहा हो तो उसके संपादन के लिये यज्ञोपवीत संस्कार की आवश्यकता होती है । जिसके देह की उत्पत्ति विष्णु रूप व्यास से हुयी है– ऐसे शुकको पुनः संस्कार की अपेक्षा नहीं है । और इसीलिये– वह यज्ञोपवीत संस्कार लिये विना ही चल दिये ।

व्यास को मोह होने का कारण है उनका 'द्वैपायन' होना । व्यास का जन्मस्थान द्वीप है– । जिसके दोनों और जल हो उसको द्वीप कहते है । यमुना के मध्य में अर्थात् द्वीप में जन्म होने के कारण व्यास द्वैपायन कह ल । यदि यह कहो कि व्यास यमुना के मध्य में कैसे उत्पन्न हुये ? तो कहते हैं कि पराशर ने जब भगवान् का ध्यान किया, तब हो भगवान् ही व्यास रूप से

अवतीर्ण हुये । अतः भगवत् अवतार होने के कारण उनकी उत्पत्ति यमुना जल के मध्य में हो सकती है । ऐसे व्यासजी को, नारद का उपदेश प्राप्त होने के पूर्व, अपने स्वरूप की विस्मृति थी– और इसीलिये वह विरह से दीन हो गये थे । अपनी इसी दीनावस्था मे, शुक को, "हे पुत्र ! हे पुत्र !" इस तरह से पुकारने लगे । श्री व्यास का कंठ पुत्र स्नेह से रुद्ध हो गया था– इसीलिये 'हे पुत्र ! इस संबोधन के अंतमे प्लुत का उच्चारण नहीं कर सके–यदि प्लुत का उच्चारण करते तो व्याकरण के नियमानुसार यहां "पुत्र" तथा "इति" में 'पुत्रेति' ऐसी संधि नहीं होती ('दूराद्धूतेच' इस सूत्रानुसार दूरसे बुलाने में 'हे पुत्र' इस तरह यहां प्लुत होता है-और 'प्लुत प्रगृह्याअचिनित्यम्' इस सूत्र से प्लुत के करण 'पुत्र इति' मे प्रकृतिभाव रहेगा– 'पुत्रेति' इस तरह संधि नहीं की जा सकती) तदनुसार यहां 'प्लुत' के अभाव में 'पुत्रेति' ऐसी संधि की गई है । श्रीधर स्वामी ने अपने 'भागवत व्याख्यान' मे इस'पुत्रेति'संधि को 'आर्षत्वात् शुद्धः' आर्ष प्रयोग के कारण शुद्ध कहा है किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि 'विरहकातर' इस पद के तात्पर्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया ।

यदि यह शंका की जाय कि 'तरवोऽभिनेदुः' वृक्षों ने प्रतिध्वनि रूप से शुक की ओर से श्री व्यास को उत्तर दिया– वह सुसंगत नहीं क्योंकि वृक्षों से युक्त प्रदेश में 'प्रतिध्वनि' नहीं होती इसका समाधान यह है कि– 'स सर्वमभवत्'– 'वह सब कुछ हो गया'– इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर उसके फल स्वरूप सर्वभाव की स्फूर्ति होने लगती है श्री शुक ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न थे अतः यदि वे वृक्ष रूप बन गये (वृक्ष भाव को प्राप्त हो गये) तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं । तदुपरांत, योग से तो वृक्षो में भी प्रवेश संभव है– अतः वृक्षों से भी उत्तरदान रूप प्रतिध्वनि युक्ति युक्त है ।

यहां संदेह होता है– कि ब्रह्मज्ञान तथा योग ये दोनों जैसे शुक में है वैसे ही व्यास में भी विद्यमान हैं तो फिर वृक्षों ने शुकमय होकर प्रत्युत्तर दिया या व्यासमय होकर । इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'आजुहाव' में यद्यपि कर्त्ता की अर्थात् व्यास की प्रधानता है तथापि 'यत्' शब्द के कर्म प्रधान होने से 'तत्' शब्द से कर्म का ही अर्थात् शुक का ही ग्रहण किया जायगा तदनुसार तन्मयतया- (तत्–मयतया) का अर्थ है- 'शुकमयतया' अर्थात् वृक्षों के शुकमय होने के कारण । तदुपरांत, विष्णु से शुक तथा 'वृक्षों' की उत्पत्ति मानी गयी है । श्रुतिभी शुक और वृक्ष इन दोनों के एक ही उपादान कारण का विष्णु का समर्थन करती है 'वैष्णवा वै वनस्पतयः वनस्पतियां विष्णु से उत्पन्न हुयी । इस तरह शुक और वृक्षों का उपादान कारण एक ही होने से 'तन्मय' का अर्थ यहां शुकमय होगा । व्यासमय नहीं । इससे यही सिद्ध होता है कि शुक की ओर से वृक्षों द्वारा किया गया अभिनन्दन प्रतिध्वनि रूप था ।

अथवा, 'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमत्-यज्ञायाऽतिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति'– इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि वाणी–शब्द ने वनस्पतियों में प्रवेश किया– वही यह वाणी (शब्द) वनस्पतियों में मुखरित होती है– अर्थात् शब्द की उत्पत्ति वनस्पतियों से हुयी है। वृक्षों द्वारा की गई इस प्रकार की प्रतिध्वनि में, शुक का ब्रह्मभाव ही, कारण है। श्रीशुक, सर्व-प्राणियों के हृदय रूप 'प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है'। सर्व-प्राणियों के हृदय में उनको प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करते है– जाते हैं। हृदय=हृत्+अय– अर्थात् जो प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करता है, हृदय में गमन करता है– (अर्थात्)– अथवा– भगवान् ही सर्व प्राणियों का हृदय रूप अर्थात् प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है।

यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि श्रीशुक चुपचाप- मौन-धारण किये हुये– चले जारहे थे– श्रीशुक मुनि हैं, ब्रह्मात्म-भाव का मनन- विचार करते हुये चले जा रहे हैं– और इसीलिये श्रीव्यास को उत्तर नहीं दिया ऐसे श्रीशुक को, और क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान हैं– इसलिये- सभी और से सर्वतः, नमस्कार करता हूं– नतोऽस्मि ॥२॥

आभास—एवं प्रथमं ज्ञानवैराग्ये उक्ते। पश्चाद्भक्त्या भगवज्ज्ञाने जाते विशेषमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्म भाव होने से ज्ञान का तथा स्थान को त्याग कर चले जाने से वैराग्य का इन दोनों का निरूपण किया गया। तदनन्तर, श्री शुक को भक्ति द्वारा जो भगवद्-ज्ञान हुआ तथा उससे उनमें गुरुत्व रूप जो विशेषता आई उसका कथन करते हैं।

श्लोक– यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥३॥

श्लोकार्थ : मैं, उस व्यास-पुत्र श्री शुक की शरण में जाता हूं जो मुनियों के गुरु है, अपने चिन्तकों को असाधारण प्रभाव से संपन्न करते हैं, श्रुतियों के सार रूप हैं, घोर अंधकार को तीर्ण करने की इच्छा-वालों के लिये ज्ञान के प्रदीप हैं तथा जिसने पुराणों में निगूढ रूपसे निहित श्री भागवत् को– संसारी जीवों पर दया-पूर्वक प्रकट किया है ॥३॥

सुबोधिनी : यः स्वानुभावमिति। सङ्गभयं तु निवृत्तम्। चिरकालमननेन भगवदावेशे सति व्याससमीपाऽऽगमनं, भागवतपाठश्चाऽर्थाल्लक्ष्यते। तदनु भागवतरसाभिनिविष्टः सर्वत्र मुनिभ्य उपदिशति। तदाह—**गुरुं मुनीनामिति।** भागवतस्य स्वरूपोत्कर्षाय चत्वारि विशेषणानि प्रमेय-रूपतां प्रमाणरूपतामसाधारण्यं साधनोत्तमरूपतां प्रतिपादयन्ति क्रमेण। तत्र **स्वानुभावं,**

भागवतस्य भगवद्रूपत्वाद्यथा भगवतः स्वः असाधारणोऽनुभावः सर्वभक्तेषु तथा भागवतस्याऽपि तच्चिन्तकेषु। किञ्च। **अखिलश्रुतिसारम्**। कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि प्रतिपादितस्य भक्तिशेषत्वकथनात्सर्वश्रुतितात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च सर्वश्रुतिसारम्। अखिलपदेन च देवदैत्यादिषु प्रवृत्तायाः श्रुतेस्तत्तदभिप्रायेणाऽर्थकथने खिलत्वमापद्यते तन्निवार्यते। आकरस्थितानां सर्ववेदानामर्थरसभूतमित्यर्थः। **एकमित्यसाधारणम्**। अन्यथा एतस्याऽपि रसान्तरसम्भावना स्यात्। बहूनां तादृशानां निर्द्धारणात्। **अध्यात्मदीपमिति**। बहिः सन्ति दीपा बोधकाः पुरुषाश्च। आत्मनि पुनर्विरला वाचा बोधयन्त्येव। न हि तादृशो भागवतादन्योऽस्ति गुरूपदेशतपःसाधनविचारव्यतिरेकेण येन सर्वेषामात्मसाक्षात्कारो भवेत्। यथा गृहे दीपे स्थापिते घटादीनां न गुर्वाद्यपेक्षा, तथा भागवते सति न काऽप्यपेक्षेत्यर्थः। अन्धन्तमः अतितर्तुमिच्छतामध्यात्मदीपमिति योजना। आत्मानमधीत्यात्मसम्बन्धिसर्वपदार्थानाम्। न केवलं मुनिभ्य एवाऽऽह। संसारिणामपि करुणया। परीक्षित्सभादिष्वपीत्यर्थः। यथा मलाऽपाकरणे वस्त्रादौ मलनिवृत्तिः शुद्धिश्च भवति। शुभ्राणां तु कर्मयोग्यतैव। तथा संसारिणां मुनीनां च विशेष इति भावः। मायाशुकव्यावृत्त्यर्थं —**व्याससूनुमिति**। **उपयामि** शरणं गच्छामि। इदानीमेव समीपे गत्वा तद्वाक्यं श्रुत्वा कथयिष्यामीत्युपशब्दार्थः ॥३॥

सुबोधिनी अनुवाद—श्री शुकका, भगवद्धर्मों के हृदय में प्रविष्ट होने से, संग-भय तो निवृत्त हो गया था। तदुपरांत, चिरकाल तक मनन करने से, भगवद्-आवेश होने पर, श्रीशुक, व्यासजी के पास आये, और, उस समय उनसे यथावत् भागवत् का अध्ययन किया– यह सहज समझा जा सकता है। तदनन्तर, भागवत– रस-में निमग्न श्रीशुक सर्वत्र मुनि महानुभावों को भागवत का उपदेश देने लगे। इसीलिये श्रीशुक मुनियों के गुरु कहे गये है– 'गुरुं-मुनीनाम्'– उपदेष्टा ही गुरु होता है।

इस श्लोक में, भागवत का स्वरूपतः उत्कर्ष बताने के लिये, यथाक्रम चार विशेषणों द्वारा उसकी प्रमेय रूपता, प्रमाण रूपता, असाधारणता तथा उत्तम साधन रूपता का प्रतिपादन किया गया है। [इन चारों विशेषणों का निरूपण इस तरह किया गया है।]

(१) स्वानुभावम्– भागवत, भगवद्-स्वरूप है– इसलिये, जिसतरह, भगवान् का, भक्तों पर उनकी अविद्या निवृत्ति के रूप में– असाधारण-प्रभाव होता है, उसी तरह भागवत का, मनन करने वालों को भी यही असाधारण-प्रभाव प्राप्त होता है– अर्थात् भागवत का भी, उसके चिन्तकों पर, अविद्यानिवृत्ति-रूप असाधारण प्रभाव होता है। 'स्वानुभावम्'– से यहां यही स्पष्ट

किया गया है–। और, भागवत की यही प्रमेय-रूपता है उसका यही स्वरूप-सामर्थ्य है।

(२) अखिलश्रुतिसारम्– भागवत, सर्वश्रुतियों का साररूप है– कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड में जो कुछ भी कहा गया है वह सब भक्ति का अंग है– भक्ति प्राप्ति के साधन रूप है, तथा सभी श्रुतियों के तात्पर्य-विषय-रूप भगवान् का प्रतिपादन, इस भागवत मे है। देव दैत्य आदि मे प्रवृत्त हुयी श्रुतियों का, उस उस अभि प्राय को लेकर ही यदि अर्थ करेगें तो यह भागवत, सर्व-श्रुतियों का साररूप नहीं माना जायेगा– किन्तु, अवशेष श्रुतियों का ही सार कहा जायेगा इस संभावना को हटाने के लिये ही यहां 'अखिल' शब्द का प्रयोग किया गया है– अर्थात् यह भागवत संपूर्ण श्रुतियों का सार रूप है– अमुक श्रुतियों का ही सार इसमे है– ऐसा नहीं है। संपूर्ण-वेदों का जो विषय है, यह भागवत उसी का निचोड़ है– सर्व-वेदों का अर्थ-रस रूप है। इस विशेषण द्वारा भागवत की प्रमाण-रूपता का प्रतिपादन किया गया है।

(३) एकम्– यह भागवत अद्वितीय- एक ही है यह भागवत-रस, असाधारण रस है इससे अधिक और कोई रस नहीं है। यदि यहां 'एक' पद का प्रयोग नहीं किया जाता, तो भागवत में भी रसान्तर की संभावना होती– तथा अन्य पुराणों के सदृशही यह भागवत भी माना जाता अन्य पुराणों मे तो रसान्तरों का उल्लेख है– यथा 'सूत ! त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं-वदस्व नः'– किन्तु, भागवत स्वयं सारका भी– वेदों के सार का भी– सार है। इसके द्वारा भागवत की असाधारणता का निरूपण किया गया है।

(४) अध्यात्मदीपम्– भागवत, अध्यात्म-दीप है– बाहर के पदार्थों का बोध दीपक द्वारा अथवा पुरुषों द्वारा कराया जा सकता है– किन्तु, आत्मा के भीतर, वाणी से बोध कराने वाले विरत्ल ही होते हैं। भागवत के अतिरिक्त ऐसा और कोई भी उपाय नहीं है जो गुरु के उप-देश विना तथा तप रूप साधन के विचार के विना ही सभी को आत्मसाक्षात्कार करा सके। जिस तरह घर में दीपक रहने पर 'घट' आदि का ज्ञान सहज ही हो जाता है, वहां गुरु- एवं अन्य पुरुष-आदि की अपेक्षा नहीं होती– उसी तरह भागवत प्राप्त होने पर, आत्म-साक्षा-त्कार में किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती अहंता ममतारूप अविद्या के घोर अंधकार को तिरनें की इच्छा करने वाले के लिये यह भागवत, अध्यात्म-अंतरका-दीप है। आत्म ज्ञान होने पर, आत्मा से सम्बन्धित सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं– क्योंकि यह अध्यात्म-दीप (भागवत) आत्म सम्बन्धी सभी पदार्थों को बोध कराने वाला है। इस चतुर्थ विशेषण द्वारा भागवत की 'साधनोत्तमरूपता' का निरूपण किया गया है।

भागवत का प्रवचन श्रीशुक ने मुनियों के लिये ही किया हो ऐसा नहीं है– उन्होंने इस

भागवत का उपदेश, दया पूर्वक परीक्षित की सभा में संसारी जीवों को भी दिया है। जैसे मल को दूर करने से, वस्त्र-पात्र आदि मल से निवृत्त होकर शुद्ध होते हैं- शुद्ध होने पर उनका कार्य में उपयोग होता है- किन्तु, जो वस्त्रादि प्रथम से ही शुद्ध हैं- उनकी तो प्रत्येक कर्मो मे योग्यता है ही। यहां संसारी जीव मलिन वस्त्र के समान हैं- इनकी, मल-निवृत्ति-पूर्वक शुद्धि होने के पीछे ही, कर्म में योग्यता प्राप्त होती है- किन्तु- शुद्ध-वस्त्र की तरह मुनियों को शुद्धि की आवश्यकता ही नहीं- भागवत के प्रवचन उपदेश की संसारी तथा मुनि मे यही विशेषता है।

यहां सूत पौराणिक, मायाशुक की शरण में जाने का निर्देश नहीं कररहे- किन्तु व्यास-पुत्र शुकदेव की शरण मे जाने का कह रहे हैं। यदि श्लोक मे केवल- शुक पद का प्रयोग किया जाता तो उससे 'मायाशुक' ग्रहण किया जा सकता था- वह यहां न लिया जाये इसीलिये यहां 'व्याससूनुम्'- इसपद का प्रयोग किया गया है। श्लोकोक्त 'उपयामि' पद में जो 'उप'- उपसर्ग है- उससे यह सूचित किया गया है कि शौनकादि ऋषियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिये- मैं- सूत पौराणिक अभी-भावना से व्यास पुत्र श्रीशुकदेव के समीप आकर उनके वाक्य को सुन कर भागवत कहूंगा ।।३।।

आभासः—असाधारणं मङ्गलमुक्त्वा सर्वैः कर्तव्यं साधारणं मङ्गलमाह—

आभासार्थः—इस तरह असाधारण मंगल करके, संप्रति, सर्व साधारण के करने योग्य, मंगलाचरण करते है—

श्लोक– नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।४।।

श्लोकार्थं : नारायण को, नर मे उत्तम ऐसे नरोत्तम को, सरस्वती देवी को तथा श्री व्यास को नमस्कार करके, भगवत्कथादिका- जयका- प्रारंभ करना चाहिये ।।४।।

नारायणमिति ।

इस श्लोक को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य आज्ञा करते हैं कि—

कारिका– जयो नाम पुराणादिः कृष्णद्वैपायनेरितः ।
अष्टादशपुराणानि भारतं तत्प्रकीर्तितम् ।।

नारायणो व्यास इति वाच्यवक्तृस्वरूपकः ।
एक एव परो ह्यात्मा आदावन्ते निवेशितः ॥

उपसाधको नरश्चोक्तश्चकाराद्गुरुताऽपि च ।
अवश्यमेवकारेण सूत्रात्मा च नरोत्तमः ॥

देवी भाग्यात्मिका नृणां वाक्यरूपा सरस्वती ।
सर्वे ते भगवद्रूपास्तस्मान्नम्या हि ते सदा ॥

कारिकार्थ— यहां व्यासजी द्वारा कहे गये अष्टादश 'पुराण' तथा महाभारत का नाम 'जय' है । यहां वाच्य नारायण ही वक्ता व्यास है– जो सबसे पर है– उसी एक आत्मा को परमात्म रूप नारायण व्यासको इस श्लोक के आदि में और अन्त में स्थापित किया गया है अर्थात् इस मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में नारायण का तथा अन्त में व्यास का निर्देश (स्थापन विस्तार)– है । नर इनका उपसाधक है– साधन करने वाला है– श्लोकस्थ 'चकार' से इसके गौरव-महिमा का निर्देश किया गया है । "सूत्र रूप 'नर' यही 'उत्तम' है—'नरोत्तम है' यहां 'चैव' में 'एव' कारका 'अवश्य'–'यही'–अर्थ किया गया है" । यहां सरस्वती से वाणी रूपा-वाक्यरूपा– सरस्वती का तथा 'देवी' पद से मनुष्यों की भाग्यात्मिका देवी का ग्रहण किया गया है । ये सभी भगवद्-रूप हैं– अतः प्रत्येक सर्वदा नमन करने योग्य है ।

सुबोधिनी व्यासेन क्रियमाणे तु नमस्कारे न व्यासपदप्रयोगः । सरस्वतीसमीपे चकारस्त-द्वक्तारं बोध- यति । तस्मात्पाठद्वयमपि लोके व्यवस्थया बोद्धव्यम् ॥४॥

सुबोधिनी अनुवाद–

'नारायणं नमस्कृत्य'– इस श्लोक से यदि स्वयं सूतजी प्रणाम करते हैं तब तो 'देवीं' सरस्वतीं 'व्यासं'– यह पाठ उचित है– और यदि व्यासजी प्रणाम करते हैं तब 'देवीं' सरस्वतीं 'चैव' अथवा 'वापि'– ऐसा पाठ उचित होगा ऐसी स्थिति मे यहां सरस्वती के निकट 'च' कार से इस श्लोक के वक्ता का ग्रहण किया जायेगा । दोनो प्रकार के ही पाठ मिलते हैं अतः लोक व्यव-स्था के अनुसार यहां 'व्यासं' तथा 'चैव'– ये दोनों ही पाठ समुचित समझना चाहिये । अर्थात् यदि व्यासजी द्वारा नमस्कार किया जाता हो तो वहां 'व्यास' पद का प्रयोग नहीं हो सकता और यदि सूतजी वक्ता हों तो फिर इस पाठ से कोई आपत्ति नहीं ।

आभास—अभिनन्दनं वदन्प्रश्नानां निर्द्धारितार्थमाह—

आभासार्थ– शौनकादिक से पूछ गये प्रश्नों का अभिनंदन करके, अब, सूतजी उन प्रश्नों के निर्धारित अर्थ को कहते हैं—

सूत उवाच—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।। ५ ।।

श्लोक अर्थः– सूतजी ने कहा हे मुनिओं ! आपने, मुझसे, लोक के लिये मंगलरूप बहुत अच्छा प्रश्न किया है– क्योंकि आपने तो आनंद रूप कृष्ण–विषयक वह प्रश्न किया है– जिससे आत्मा अत्यन्त प्रसन्न होती है ।५।

मुनय इति । फलं कृष्ण एव । सर्वप्राणिनामैहिकाऽऽमुष्मिकफलदाता च स एव । भक्ति-मुक्ती च लीलाः । अवताराश्च । धर्मरक्षकश्च स एव । अतः षण्णां प्रश्नानां स एवाऽर्थः । द्वितीयप्रश्ने द्वितीयं फलमेभ्य एव भवति । हे मुनयः ! निर्द्धारितार्थाः । यद्यपि यदेव पृच्छ्यते तत्रैवोत्तरं देयं, तथापि पृष्टमेव साधु । इदमेव हि लोकानां मङ्गलं, यत्कृष्णः पृच्छ्यते । येन च आत्मा कृष्णः प्रसीदति । अन्तःकरणस्याऽपि भगवतस्तद्धर्माणां वा आवेशे प्रसादः । इदं हि सामान्योत्तरम् । शास्त्रान्तरे श्रवणानन्तरं मनननिदिध्यासनाभ्यां कार्यसिद्धिः अत्र तु सा प्रश्नैरेवेति प्रश्न एव शास्त्रसमाप्तिः ।।५।।

सुबोधिनी अर्थ : कृष्ण ही फल है । सर्व प्राणियों को, इस लोक तथा परलोक का फल देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं । भक्ति, मुक्ति लीलायें उसीकी है– अवतार रूप तथा धर्म-रक्षक भी वही है अतः पूर्वोक्त छहों प्रश्नों का अर्थ श्रीकृष्ण ही है । दूसरे प्रश्न में, जो अंतःकरण प्रसाद रूप द्वितीय फल है वह मुनियों को ही प्राप्त होता है हे मुनियों ! आप लोगों ने मुनि होने के कारण मनन द्वारा संपूर्ण अर्थों का निधार कर लिया है । यद्यपि जिस विषय में पूछा जाताहै उसी विषय का उत्तर देना चाहिये, तथापि जो कुछ भी पूछा गया है वह सब श्रेष्ठ है– आप द्वारा कृष्ण-विषक प्रश्न पूछा गया है- यह ही लोकों के लिये मंगल रूप है, और इसीसे आत्मरूप कृष्ण प्रसन्न होते हैं। भगवान् तथा उनके धर्मों का आवेश होने पर, अंतःकरण में भी प्रसन्नता होती है । यह आपके प्रश्नों का सामान्य उत्तर है । अन्य शास्त्रों के अनुसार तो श्रवण के अनन्तर मनन, निदिध्यासन करने पर कार्य-सिद्धि होती है, किंतु यहां भागवत में यह कार्य-सिद्धि तो प्रश्न मात्र से ही हो जाती है– अतः कृष्ण संबंधी प्रश्न में ही सब शास्त्रों की समाप्ति है अर्थात् अन्य शास्त्रों में कहे

गये जो साधन हैं– उनके अनुष्ठान से जो कार्य सिद्धि होती है– वह सब यहां भागवत में कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न के पूछने मात्र से सम्पन्न हो जाती है ।५।

आभास : इदानीं फलसाधने एकीकृत्य स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थं निरूपयति सप्तदशभिः । भगवत्साक्षात्कारः फलम् । साधनपारम्पर्ये प्रथमतो धर्मः । अन्तिमो भगवत्प्रसादः । स च खण्डशः सर्वत्र साधनेषु वक्तव्यः । तथा सती परम्परान्तेमहाप्रसादे सति, भगवानात्मानमाविःकरोति ।तत्र भक्तिस्त्रिविधा । ज्ञानञ्च त्रिविधम् । रुचिः श्रवणादिः प्रेम चेति भक्तिस्त्रिविधा । आत्मज्ञानं तत्वज्ञानंभगवज्ज्ञानं चेति त्रिविधम् । धर्मो वैराग्यं च साधनम् । तत्परम्परायां यथायोग्यं निवेशनं निरूप्यते तत्र प्रथममेकां शृङ्खलामाह—

आभासार्थ : प्रथम श्लोक में जो कुछ सामान्य रूप से कहा गया है, उसी को विशेष रूप से अग्रिम सत्रह श्लोकों से कहते हैं । आत्म-प्रसन्नता रूप फल तथा धर्मरूप साधन इन दोनों को एक करके-अपने अधिकारानुसार सत्रह श्लोकों से शास्त्र के अर्थ का निरूपण करते हैं । यहां भगवान् का साक्षात्कार करना फल है । साधनों की परम्परा में प्रथम साधन "धर्म है-तथा अंतिम भगवान् का अनुग्रह है । यह अनुग्रह सभी साधनों में खंडशः कहा गया है प्रत्येक साधन में अल्प अल्प अंश मे कहागया है, अर्थात् प्रत्येक साधन में भगवद्–अनुग्रह की अमुक मात्रा अनिवार्य है । भगवद्– अनुग्रह से ही जीव की साधन में प्रवृत्ति होती है । इस तरह साधनों की परम्परा के अन्त में भगवान् का महान् अनुग्रह होने पर, भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं । इस साधन परम्परा में भक्ति तीन प्रकार की है तथा ज्ञान भी तीन प्रकार का है । रुचि, श्रवण कीर्तनादि तथा प्रेम–इस तरह भक्ति त्रिविध है– आत्म-ज्ञान, तत्वज्ञान तथा भगवद्-ज्ञान । इस तरह ज्ञान भी त्रिविध है– धर्म तथा वैराग्य साधन है । उस साधन परम्परा में धर्म और वैराग्य के, यथायोग्य प्रमाण मे, निवेशन का निरूपण किया गया है । यहां प्रथम, इसी साधन–परम्परा की एक शृंखला का दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक– स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।।६।।

श्लोकार्थ—मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे अधोक्षज में (इन्द्रियजन्य ज्ञान से जो अतीत है उसमे) ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति उत्पन्न हो जिससे आत्मरूप भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होजायें ।६।

सुबोधिनी—स वै पुंसामिति । धर्मः साधनम् । भक्तिः फलम् । तत्र विहितश्रवणादीनां धर्मरूपाणां दृष्टप्रकारेणैव भक्तिसाधकत्वम् । स्नानादीनामदृष्टद्वारा । तत्र साधनान्तराऽनुप्रवेशे व्यभिचारोऽपि सम्भवति । अतः प्रथमं स्नानादिधर्मनिर्द्धारः क्रियते । प्रमाणस्य तुल्यत्वेऽपि फलबलाद्विशेषः । अतो वै निश्चयेन पुंसां परो धर्मः सः यतो भक्तिः श्रद्धालक्षणा भवति । स्वर्गादिसाधके तु धर्मत्वं सन्दिग्धं परत्वं वा । स चाऽग्रे विचारयिष्यते । धर्मे स्वातन्त्र्यञ्च सहायः कर्तृ विशेषणत्वेनोक्तः—**पुंसामिति** । परत्वं च विधीयते । व्यावर्तकमिति केचित् । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति । इन्द्रियाविषये । इन्द्रियविषये हि कामादिभिरेव रुचिरुत्पद्यते । किं धर्मेण । धर्मो हि पुरुषार्थो बलिष्ठः । स च प्रतिबन्धकानि दूरीकृत्याऽपेक्षितानि साधनानि च सङ्गृह्य पर्यवसायि फलं जनयति । तत्र रुचिश्चेद्भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम् । उपहता वा दुःसङ्गादिभिस्तदापि न धर्मत्वम् । तदाह—**अहैतुक्यप्रतिहतेति** । हेतुः फलाभिसन्धानम् । प्रतिघातो रोगादिभिः । तस्याऽपि फलमाह । आत्मा अन्तःकरणसाक्षी भगवान् प्रसीदति । स्वपर्यवसानात्सुष्ठु ।।६।।

सुबोधिनी अनुवाद : धर्म साधन है, भक्ति उसका फल है । शास्त्र विहित जो श्रवणादि धर्म है–वे साक्षात् भक्ति को उत्पन्न करते हैं, भक्ति के साधक हैं । स्नान आदि धर्म से प्रथम अदृष्ट उत्पन्न होता है और अदृष्ट से भक्तिरूप फल मिलता है । किन्तु, श्रवणादि धर्म से साक्षात् फल-सिद्धि तत्काल प्राप्त होती है और यहां बीच में अदृष्ट जैसी किसी वस्तु के उपस्थित होने की कोई सम्भावना भी नहीं रहती । यदि स्नानादि धर्म में कोई अन्य साधन का प्रवेश हो जाये तो फल में अनियमितता भी (अनिश्चितता) सम्भव है । इसलिये प्रथम स्नानादि धर्मों का निर्णय किया जाता है । श्रवणादि तथा स्नानादि धर्मों में प्रमाण की समानता होने पर भी श्रवण कीर्त्तनादि धर्मों में, फल की सुलभता के कारण अपेक्षाकृत विशेषता है । इसीलिये मनुष्यों का निश्चित रूप से उत्कृष्ट धर्म वही है जिससे भगवान् में श्रद्धारूप भक्ति उत्पन्न हो जाये । स्वर्गादि के साधक जो धर्म बताये गये हैं, उन यज्ञादि धर्मों की धर्मरूपता अथवा उत्तमरूपता संदिग्ध है । इसका विवेचन अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा । धर्म मे स्वतन्त्रता को सहायक माना गया है, इसीलिये धर्म की विशेषता यहां 'पुंसां' पद से स्पष्ट की गयी है । स्वतन्त्र पुरुष ही सहायक होते हैं क्योंकि धर्म का सुचारु संपादन स्वतन्त्र पुरुष ही कर सकता है । यहां 'पर-परत्व' का विधान श्रवणादि धर्म के लिये किया गया है, अर्थात् श्रवणादि धर्म ही सब धर्मों में मुख्य श्रेष्ठ हैं । किसी के मत में यहां 'परः' धर्म का विशेषण है । श्री आचार्यचरण ने 'परः' को विधेय माना है । 'परः' को विधेय मानने पर उसका अर्थ यह होगा– जिससे भगवान् में भक्ति हो वही धर्म 'परः' है ।

भगवान् को यहां अधोक्षज कहा है– क्योंकि भगवान् लौकिक-इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान, प्रभु से नीचे है– अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् इति। इसलिये इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकता। लौकिक इन्द्रियों से जिन विषयों का ज्ञान होता है उनमें तो काम आदि से ही रुचि उत्पन्न होती है। वहां धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। धर्म तो बलिष्ठ पुरुषार्थ है। वह सभी अड़चनों को प्रतिबन्धों को दूर करके अपेक्षित यथा आवश्यक साधनों को जुटा कर अन्तिम फल की प्राप्ति करा देता है। वहां यदि भगवान् में यह रुचि साधन रूप से अर्थात् फल की आकांक्षा से उत्पन्न हुई हो तो वह धर्मरूप नहीं है। अथवा, यदि यह रुचि रूप भक्ति दुःसंगादि से नष्ट हो जाती है तो भी वह धर्मरूप नहीं है। हेतु अर्थात् फलाकांक्षा से रहित अहैतुकी तथा रोगादि से नष्ट न होने वाली अप्रतिहत– ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति जिससे उत्पन्न होती है वही धर्म 'उत्तम' कहलाता है। ऐसी भक्ति का फल हैं-अंतःकरण के साक्षी भगवान् का प्रसन्न होना। भगवान् की अत्यन्त प्रसन्नता मे ही जीव के अन्तःकरण की प्रसन्नता है यहां इसी का निर्देश 'सुप्रसीदति के 'सु' उपसर्ग द्वारा किया गया है।

आभास : भक्तेर्विषयं प्रयोजनं चाऽऽह—

आभासार्थ : भगवान् के प्रसन्न होने पर जीव का भगवान् मे पर्यवसान होता है। अब भक्ति के विषय का और उसके प्रयोजन का विवेचन करते हैं :—

श्लोक : वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ॥७॥

श्लोकार्थ : वासुदेव भगवान् में निरन्तर किया गया भक्तियोग, शीघ्र ही वैराग्य एवं आत्मज्ञान उत्पन्न करता है और वह ज्ञान। अनुमानगम्य न होकर साक्षात्कार रूप होता है।

सुबोधिनी : **वासुदेव इति**। शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूतो वासुदेवः। **"सत्त्वं-विशुद्धमि"**ति वाक्यात्। स च ध्यानादिभेदेन देवतान्तरविषयेणाऽन्योऽपि भवति। तद्व्यावृत्त्यर्थ-माह—**भगवतीति**। रुचिमात्रत्वनिराकरणाय परम्परासिद्धये—**योग इति**। भक्तिरेव योगः। प्रकर्षो हि दीर्घकालादरनैरन्तर्यम्। तस्य परमफलं भगवत्प्रसादः सर्वत्राऽनुवर्तते। अन्यदप्याह—**जनयतीति**। आशु शीघ्रं विषयेषु वैराग्यमात्मनि च ज्ञानं। तच्चाऽहैतुकं नाऽनुमानगम्यं, किन्तु साक्षात्काररूपम् ॥७॥

सुबोधिनी अनुवाद- शुद्ध-सत्व रूप अंतःकरण में जिसका आविर्भाव होता है वह वासुदेव है– 'सत्वं विशुद्ध' श्लोक में इसी बात का निर्देश किया गया है। देवतान्तर विषयक ध्यानादि के भेद से यह वासुदेव मूर्तिरूप अथवा अवताररूप अन्य देवता भी हो सकता है किन्तु उनका यहां ग्रहण न किया जायें, इसीलिये उनको 'भगवति' ऐसा कहा गया है । जिसका तात्पर्य यह है– कि यहां षडैश्वर्य से युक्त भगवान् ही 'भजन' के विषय हैं– अन्य अवताररूप अथवा मूर्तिरूप नहीं । षडैश्वर्य से युक्त भगवान् में ही भक्ति होनी चाहिये। श्लोक में भक्तियोग के 'योग' पद से यह कहा गया है कि 'केवल रुचि उत्पन्न हो जाना ही भक्ति नहीं है– किन्तु रुचि श्रवण तथा प्रेम इन तीनों के योग से 'भक्तियोग' बनता है । 'प्रयोजित' में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है– चिरकाल से निरन्त किया गया (योजित)। रुचि, श्रवणादि तथा प्रेम का उत्तम फल भगवत् प्रसाद कहा गया है। अर्थात् जहां जहां भक्तियोग वहां वहां भगवत्प्रसाद ।

इस प्रकार का भक्तियोग, विषयों के प्रति वैराग्य को तथा आत्म-ज्ञान को शीघ्र ही उत्पन्न करता है। यह आत्म-ज्ञान साक्षात्कार रूप होता है । अनुमानगम्य नहीं और इसी का निर्देश श्लोक के 'अहैतुक' पद से किया गया है। साक्षात्कार में 'हेतु' की अपेक्षा नहीं होती। ऐसे भक्तियोग से आनुमानिक ज्ञान से नहीं, स्वयं भगवान् से साक्षात्कार होता है ॥७॥

आभास : एवं धर्मादिज्ञानान्ता एका परम्परा निरूपिता । तस्या अपि निर्द्धारिकामन्यां परम्परां वक्तुं धर्मस्य तदजनने बाधकमाह—

आभासार्थ– इस तरह धर्म से प्रारम्भ करके ज्ञान पर्यन्त की एक परम्परा का निरूपण करके– सम्प्रति, इसी परम्परा का भी निर्णय करने वाली द्वितीय परम्परा का विवेचन करने के लिये यहां यह कहते हैं कि जो धर्म, भक्तियोग को उत्पन्न नहीं करता, वह धर्म बाधक है, अन्तराय रूप है।

श्लोक : धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥८॥

श्लोकार्थ– जो धर्म भगवत्कथा में मनुष्यों की रति-प्रेम उत्पन्न नहीं करता, वह भलीभांति अनुष्ठित किया गया भी केवल श्रमरूप ही है ।८।

सुबोधिनी— धर्मः स्वनुष्ठित इति । धर्मः साधनम् । कथारुचिः साध्या । तत्र स्वरूपोप-

कारी धर्मोऽग्रे वक्तव्यः । अदृष्टद्वारोपकारिणां व्यभिचारसम्भावनाया विद्यमानत्वान्निन्दति। सम्यगनुष्ठितोऽपि स्नानादिधर्मः। विष्वक्परितः सेना आज्ञा वा यस्य। अनेन रत्यभावे सर्वमन्यथा भवेदित्यत्र हेतुरुक्तः। प्रासङ्गिकत्वाभावाय सप्तमी। बहुवचनं सामान्यत्वाय। वीर्यत्वाद्यभावाय— **कथेति**। य इति धर्मस्य पूर्वोक्तबलं सूचितम्। रतिं प्रीतिम्। तदा तस्य धर्मस्य स्वरूपमाह— **श्रम एव हि केवलमिति**। यथा मल्लानां गात्रचालनाद्यभ्यासस्तथा स्नानाद्यभ्यासोऽपि। अन्यव्यावृत्त्यर्थमेवकारः। तेन नाऽदृष्टमुत्पद्यत इत्यर्थः। हि युक्तोऽयमर्थः। फलव्यभिचारात्। ननु श्रमे बलवृद्धिर्मल्लादिषु दृष्टा तथाऽत्राऽपि लौकिकं किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह—**केवलमिति**। फलान्तरस्याऽदर्शनात्। प्रतिष्ठाऽपि न सद्भिर्निरूप्यते। स्वर्गादीनां तु फलत्वमग्रे निराकरिष्यते। एवं साधारणधर्मस्य वैयर्थ्यमुक्तम्। पुत्रादिकामनया क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति। फलस्याऽविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्। किन्तु भित्त्यादिकृतिवन्नैमित्तिकमेव। तत्र यजत्यादेरनुवादः चित्तशुद्धयभावेनाऽधिकाराभावादन्यथा करणाद्देवताधिष्ठानाभावात्क्रियाया लौकिकत्वम्। फलं साधनं च सामान्यतः पूर्वमेव प्रतीतम्। तथाचौषधादिवत्तृतीयया करणत्वमात्रं बोध्यते। यजतिस्तु व्यर्थः। तस्मान्न धर्मत्वम् ॥८॥

सुबोधिनी अनुवाद: धर्म यहां साधन है और कथा मे रुचि साध्य है। स्वरूप में उपकार करने वाले धर्म का निरूपण आगे करेंगे। अदृष्ट द्वारा उपकार करने वाले स्नान, यज्ञ आदि धर्मों का अच्छी तरह अनुष्ठान किया भी जाये तो भी उनके द्वारा कथा में रुचि उत्पन्न हो ही जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसे धर्म की निन्दा ही की गयी है। अच्छी तरह आचरित स्नानादि धर्म भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न नहीं करते, अतः वे निन्द्य ही हैं।

श्लोकोक्त– 'विष्वक् सेना' का अर्थ है– चारों ओर सेना अथवा आज्ञा है जिसकी ऐसे भगवान्। भगवान् की सेना अथवा आज्ञा सर्वत्र है। भगवान् की कथा में प्रेम उत्पन्न नहीं करने वाले धर्म, अन्यथा माने जाते हैं। कथासु में सप्तमी विभक्ति द्वारा यह सूचित किया गया है कि भगवत्कथा में प्रासंगिक प्रेम न होकर स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये। 'कथासु' में बहुवचन से यह तात्पर्य है कि भगवान् की कोई भी कथा हो, उसमें प्रेम होना चाहिये। भगवत्कथा में वीर्य आदि के अभाव का निर्देश 'कथा' पद से किया गया है। धर्म के रति-उत्पादक फल का संकेत- यः पद से किया गया है। रति का अर्थ है प्रीति। जिस धर्म से भगवत्कथा में प्रीति न हो वह धर्म नहीं किन्तु श्रम मात्र है। मल्लों को दण्ड बैठक आदि कसरत करने के अभ्यास की तरह स्नानादिक धर्म भी एक प्रकार का केवल अभ्यास है– इससे किसी अन्य प्रकार के फल की भी संभावना नहीं और यही निर्देश करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया है। इससे अदृष्ट फल भी

उत्पन्न नहीं होता और यहां यही अर्थ 'हि' युक्त है। क्योंकि इस प्रकार के धर्म में भगवत्कथा में प्रेमोंत्पत्ति रूप फल का अभाव है। यहां यह शंका होती है कि व्यायाम आदि श्रम करने से जैसे मल्लादि में बल की वृद्धि देखी जाती है, वैसे ही यहां भी भगवत्कथा में प्रीति उत्पन्न न करने वाले धर्म में भी कोई लौकिक फल तो अवश्य होगा ही– इस शंका के समाधान मे कहते हैं कि यहां तो 'केवल' श्रम ही होता है क्योंकि ऐसे धर्म का कोई अन्य फल नहीं देखा गया। तदुपरान्त, ऐसे धर्म करने वाले की प्रतिष्ठा होती है तो यह भी बात नहीं है। सत्पुरुष ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा का निरूपण भी नहीं करते। स्वर्गादि में तो फलरूपता है ही नहीं– इसका निरूपण अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा। इस तरह आवश्यक नित्य धर्म यदि भगवत्कथा में प्रीतिजनक न हो तो वह सब व्यर्थ है। पुत्रादिक की कामना से किया जाने वाला धर्म धर्म ही नहीं है। क्योंकि पुत्रादि रूप कोई फल नहीं है। पुत्रादि रूप यह फल अविद्या का कार्य है– अतः दुःखरूप है। किसी कामनासे किया गया धर्म रहने के लिये मकान की भींत आदि निर्माण करने की तरह नैमित्तिक ही है।

ऐसी स्थिति में, यजति-यज्ञ करता है, यजेत्–यज्ञ करना चाहिये। इनमें 'यजेत्' आदि विधि न होकर केवल 'अनुवाद' रूप है– (यज्ञ करने की जो विधि है उस तरह न करके केवल जो कुछ लिखा है– उसको पढ़ कर क्रिया करने जैसा है) चित्तशुद्धि के विना यज्ञादि धर्म में अधिकार न होने के कारण विपरीत कर्म करने से उस कर्म में देवता का आगमन नहीं होता। वह अनुपस्थित ही रहता है। ऐसी स्थिति में वह क्रिया और उसका फल एवं उसके साधन सब लौकिक ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य-शुद्धि की तरह आन्तर-शुद्धि भी आवश्यक है और ऐसे नैमित्तिक स्नानादिक कर्मों से अंतःशुद्धि न होने के कारण वेदोक्त कर्म का अधिकार नहीं रहता। तदुपरान्त– वेदोक्त क्रिया में वाक्य के तात्पर्य ज्ञान की भी आवश्यकता है। इन सब के अभाव में विहित कर्म अन्यथा होंगे और देवता का अधिष्ठान भी नहीं होगा। सब क्रिया लौकिक हो जायेगी– अतः वहां विधि का सम्बन्ध जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होगा। अग्निष्टोमेन यजेत में जो तृतीया है, वह औषध की तरह कारणत्व मात्र की बोधिका है अर्थात् लौकिक फलानु–सन्धान पूर्वक जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें 'यजेत्' यज्ञ करने का विधि तो निरर्थक ही है। अतः जो कर्म लौकिक फल देता है तथा भगवत्कथाओं में रति उत्पन्न नहीं करता हो वह 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। ८।

आभासः—ननु कामितं फलं पुरुषार्थः। तत्साधकस्य कथं न धर्मत्वम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थः—यहां, यह शंका होती है कि पुत्रादिक इच्छित फल भी पुरुषार्थ रूप है तो

इस फल की सिद्धि कराने वाले यज्ञादि धर्म, धर्म क्यों नही कहे जा सकते ? इसके समाधान में कथन है कि—

श्लोक– धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।९।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ—मोक्ष पर्यन्त फल की प्राप्ति कराने वाले धर्म का फल 'अर्थ' नहीं है, किन्तु मोक्ष है । धर्माचरण रूप फल की सिद्धि देने वाले 'अर्थ' से कामोपभोग लाभ नहीं होता– अर्थ का फल धर्म है, काम नहीं । काम का लाभ इन्द्रियों की प्रीति नहीं हैं– किन्तु जितने 'काम' द्वारा जीवन निर्वाह हो सके उतने काम की प्राप्ति करना ही काम का लाभ फल है । इसी तरह जीवन का लाभ भी कर्मों द्वारा अन्य पुरुषार्थो को सिद्ध करने के लिये नहीं है किन्तु तत्वजिज्ञासा है (तत्व जानने की इच्छा को बनाये रखने का है) ।।९–१०।।

सुबोधिनी—**धर्मस्येति** । "**अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वि**" ति कोशादर्थशब्दस्य पञ्चाऽर्थाः । तत्र शब्दप्रकरणान्नाऽभिधेयत्वम् । उपपदस्याऽभावान्न निवृत्तित्वम् । ततो रैवस्तुप्रयोजनान्यवशिष्यन्ते । तत्र धनपशुपुत्रादयो रैरूपाः । ते धर्मकार्या न भवन्ति । धर्मो हि चोदनालक्षणः । तत्र लौकिकत्वेन विधिस्पर्शाभावान्न धर्मत्वम् । अन्यथा भेषजपानादेरपि धर्मत्वं स्यात् । तथा प्रतिग्रहस्य । अपूर्वांशस्तु नास्त्येव । किञ्च । एते हि वस्तुतोऽनर्थाः । आत्मनाशकत्वात् । तथाच यथा श्येनादयो न धर्मास्तथा धनार्थादिसाधका न धर्माः । ये पुनर्धर्मास्ते न धनादिसाधका इत्यर्थः । तथा न परमार्थरूपाः । न वा प्रयोजनरूपाः । किञ्च । धर्मविशेषः स भवतु नाम । निवृत्तार्थपुरुषार्थस्य मुमुक्षोर्धर्मकर्तुर्धर्मः कथमर्थाय स्यादित्याह—**आपवर्ग्यस्येति** । अपवर्गसम्बन्धिनः अपवर्गपर्यन्तं वा क्रियामाणस्य । ननु धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पदार्थाः पूर्वपूर्वसाधनरूपाः । तथाच धर्मः कथं नाऽर्थाय ? तत्राऽऽह—**नाऽर्थस्येति** । अदृष्टात् दृष्टं हि बलवत् । अर्थेन हि धर्मो दृश्यते नहि धर्मेणाऽर्थः । धर्म एव एकः अन्तः पर्यवसितं कार्यं यस्येति । तथाच येन केनाऽप्युपायेन अर्थं सम्पाद्य धर्मः कर्तव्यः । न तु धर्मेणाऽर्थसम्पादनम् । ननु तर्ह्यर्थः सर्वसाधकोऽस्तु । कामस्याऽपि तत्कार्यत्वेन दर्शनात् । तत्राऽऽह—**कामो लाभायेति** । कामो विषयसुखम् । इन्द्रियविषयाधीनं हि तत् । तत्र विषयांशेनाऽर्थोपयोगः । रूपादीनामेव विषयत्वात् । न च रूपादिसम्पादकः । सिद्धानि रूपाण्यन्यस्य भवन्तीति चेद्विपरीतमायातम् । अर्थे प्राप्ते रूपादि गच्छति गते चाऽर्थे रूपादिप्राप्तिरिति ।

परावृत्तावपि साध्यसाधनता चेत्तत्राऽपि वैपरीत्यमुक्तम् । तथाच वस्तुव्यत्यासवदर्थेनाऽर्थ इव न कामः । न च विषया एवाऽर्थरूपाः कामसाधका इति वाच्यम् । लोकप्रसिद्धचभावात् । अर्थसाधकस्याऽपि धर्मत्वापत्तेश्च । लोके साहचर्यमात्रेण साधनत्वप्रतीतिः । कदर्यस्याऽर्थवतोऽपि कामाभावाच्च । पश्वादीनामर्थाभाववतामपि कामदर्शनाच्च । तथा मस्करिणः । तथा चाऽऽत्मविदः । **"आत्मकामाऽऽप्तकाम"**—इति श्रुतेः । तथाच क्वचित्साहचर्यदर्शनेन साध्यसाधनभाव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन अर्थेन कामः साध्यताम् । स कियान् कामः कीदृशश्च ? जीवनमात्रपर्यवसितश्चेत् ? स च आ ब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं स्वतः सिद्धो नाऽर्थसाध्यः । अर्थेन्द्रियप्रीतिरूपः ? अनलत्वात्तस्य न पूर्त्तिरस्ति । **"न जातु कामः कामानामि"**ति वचनात् । अनुभवाच्च । प्रवृत्तिस्तु भ्रान्त्या । तथाच कामो विषयभोग इन्द्रियप्रीतिहेतुर्न भवति । लाभपदं देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । तस्मात्क्रमः साधनपरम्परारूपः । कामेन जीवनमर्थरूपं जीवने धर्मः ज्ञानञ्च । तेन च मोक्ष इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासेति** । जीवस्य जीवनस्य । तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वविचार इच्छापूरकज्ञानसाधकः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा लाभ इति पूर्वेण सम्बन्धः । कर्मभिः साध्यो यः कामो वा अर्थो वा । धर्मस्तु न केवलं कर्मसाध्यः । किन्तु श्रुतिबोधितकर्मसाध्यः । तत्राऽपि इह कर्मभिः साध्यो न पुरुषार्थः संसारविषयकः । यो वा दैवगत्या प्राप्तः सोऽपि न भवतीति चकारार्थः ।। ९ ।। १० ।।

सुबोधिनी अनुवाद— कोश में 'अर्थ' शब्द के पांच अर्थ हैं– वाच्य (अभिधेय)–धन, पुत्र पशु, पुत्र आदि (रैः), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति । यहां श्लोक में शब्द का प्रकरण होने से, अभिधेय अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ नहीं लिया जा सकता । 'मशकार्थोधूमः' की भांति अर्थ शब्द के पूर्व उप पद नहीं होने से 'निवृत्ति' अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । अब, धन, पुत्र, पशु आदि (रैः) तथा प्रयोजन ये दो अर्थ शेष रहते हैं– इनमें (रैः)–धन, पुत्र, पशु आदि धर्म के फल नहीं हो सकते क्योंकि जो विधि-विहित हो उसको ही धर्म कहते हैं । धन, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति के लिये किया गया धर्म लौकिक है वह विधि से सम्बन्धित नहीं है, अतः धनादि, धर्म का कार्य नहीं है । यदि लौकिक में भी विधि का स्पर्श माना जाये तो 'औषध का सेवन करना चाहिये भेषजं पिबेत्–दान लेना चाहिये–प्रतिग्रहं गृह्णीयात् आदि क्रियायें भी धर्म कहलायेंगी । यदि यह कहो कि इस प्रकार कि क्रियाओं में अपूर्व उत्पन्न होता है तो फिर उनमें धर्मत्व क्यों न माना जाये । इसका उत्तर यह है कि भेषजपान से आरोग्य, प्रतिग्रह आदि से धनादि रूप प्रत्यक्ष-दृष्ट फल मिलता है, अतः यहां अदृष्ट अपूर्व की कल्पना करना ही व्यर्थ है । यदि यह कहा जाये कि यज्ञादि से कुछ काल के अनन्तर धन, पशु, पुत्रादि रूप फल मिलते हैं अतः वहां मध्य में–

(जब तक धनादि रूप फल नहीं मिलता तब तक) 'अपूर्व' अदृष्ट ही चाहिये तो फिर, धन पुत्रादि देने वाली क्रियाओं को धर्म परू न मानने में क्या आपत्ति है?

यहां इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि ये धन पुत्रादि अर्थ नहीं, वस्तुतः अनर्थ है क्योंकि इनमें आसक्त पुरुष अपना स्वयं का विनाश कर देता है । धर्म, अर्थ का कारण कहा गया है अनर्थ का नहीं–अतः धन पुत्रादि प्राप्त कराने वाली क्रियाओं में धर्मरूपता नहीं है और जिस प्रकार अन्य के मारणार्थ किये गये श्येनादि यज्ञ धर्मरूप नहीं हैं, उसी प्रकार धनादि अर्थ के साधक कर्म, धर्म नहीं हैं और इसी तरह जो धर्म है वह धनादि के साधक नहीं हैं ।

अब यदि 'अर्थ' शब्द का 'वस्तु' अर्थ लें तो वह भी उचित नहीं । धर्म, परमार्थ रूप, परम वस्तु रूप है, केवल वस्तु रूप नहीं । इसीलिये धन, पुत्र, पशु आदि वस्तुयें कभी परमार्थ रूप नहीं हैं । अर्थ शब्दे का 'प्रयोजन' अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता 'धर्म' का प्रयोजन भगवान् से सम्बन्ध कराने का है जिससे भगवान् का सम्बन्ध हो– वही प्रयोजन कहलाता है। प्रकर्षेण-नयुज्यते अनेन– यहां तो धनादि लौकिक प्रयोजन है, धर्म का प्रयोजन लौकिक उपलब्धि नहीं है ।

यहां शंका होती है कि यदि यह सब कुछ ऐसा ही मान लिया जाये तो 'काम्येष्टि' पशुकांड भी धर्म–परक नहीं माना जायगा । सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' इस कथन से विरोध आयेगा । इसका समाधान यह है कि कहीं कहीं कर्म को धर्मरूप कहा है-किन्तु यह गौण धर्म रूप ही है । लौकिक फल की आसक्ति से किये गये काम्य–कर्म, श्येनादि यज्ञ की तरह अनथ रूप होने से धर्म रूप नहीं हो सकते– यही यागादि यदि बहिर्मुख को वैदिक क्रियाओं के सम्मुख करने के लिये किये जाते हों तो गौण धर्म रूप कहलाते हैं। धनादि के लिये आचरित क्रियाएं लोक–संग्रह रूप होने के कारण गौण धर्म रूप भी नहीं है । अतः धनादि लौकिक फल, धर्म की उपलब्धि नहीं । धर्म, अर्थ का साधक नहीं है । यदि धर्म द्रव्यादि के लिये होता तो द्रव्यादि रूप पुरुषार्थ से निवृत्त तथा धर्म परायण मुमुक्षु पुरुष का धर्म भी अर्थ के लिये ही होना चाहिये– लेकिन ऐसा नहीं है । क्योंकि धनादि में उनकी आसक्ति ही नहीं । मोक्ष सम्बन्धी अथवा मोक्ष पर्यन्त किये जाने वाले धर्म का फल अर्थ क्योंकर हो सकता है?

यहां यह शंका होती है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में पूर्व का पुरुषार्थ, उसके पीछे वाले पुरुषार्थ का साधन रूप है– तदनुसार धर्म से अर्थ सिद्ध होता है–अर्थ से काम, और काम से मोक्ष सिद्ध होता है । "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते" तथा "कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः" इत्यादि उद्धरणों से भी यही प्रतिपादित किया गया है । काम, मोक्ष क

साधन है यथा 'प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थः'। तो फिर, धर्म को अर्थ का साधन मानने में क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि 'नार्थस्य'– अदृष्ट से दृष्ट बलवान है–द्रव्यादि अर्थ द्वारा, होम दानादि रूप धर्म होते हैं और वह दिखाई देते हैं प्रत्यक्ष हैं, किन्तु धर्म से जो अर्थ प्राप्ति होती है वह दिखाई नहीं देती, अदृष्ट है। धर्मसे धनादि की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी। इसलिये अर्थ का एकमात्र अन्तिम कार्य धर्म ही माना गया है। अर्थ से ही धर्म सिद्ध होता है तदनुसार किसी भी उपाय से अर्थ की प्राप्ति करके धर्म करना चाहिये किन्तु धर्म से अर्थ का सम्पादन नहीं करना चाहिये। एष उ एव साधुकर्म कारयति इस श्रुति के अनुसार भगवान जिसे उन्नत करना चाहते हैं उससे ही अच्छे धर्म रूप कर्म कराते हैं। इससे इतना सिद्ध है, भगवान् ही सब कार्यों में प्रवृत्ति कराते हैं। अपूर्व द्वारा धर्म, अर्थ का साधक है– इस कथन का दृष्ट से विरोध होने के कारण जैसे मीमांसक धर्म को अर्थ का हेतु नहीं मानते, वैसे मुमुक्षुओं के लिये भी यह पक्ष अनादरणीय है, अर्थात् धर्म से अर्थ का सम्पादन मुमुक्षुओं को अभीष्ट नहीं है।

यदि अर्थ से ही धर्म संपादन होता है तो फिर यही क्यों न कहा जाये कि अर्थ से ही काम और मोक्ष भी सिद्ध होते हैं? यह कथन उचित नहीं है। अर्थ से काम सिद्ध नहीं किया जा सकता– 'कामो लाभाय'– विषय सुख का नाम काम है– यह विषय सुख, इन्द्रियों और विषय के अधीन है। विषय सुख तभी मिल सकता है जब इन्द्रियां सशक्त हों और विषय उपस्थित हो। केवल अर्थ से विषय सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः यह कथन कि अर्थ से ही काम की सिद्धि मिलती है, प्रत्यक्ष से विरुद्ध है।

इस कथन मे यह शंका होती है कि यद्यपि विषयसुख, इन्द्रियों के और विषय के अधीन अवश्य है तथापि यहां, इन्द्रियांश में भले ही अर्थ का द्रव्यादि का उपयोग न हो किन्तु पुष्प-माला तथा चंदनादि रूप विषयांश में तो अर्था का उपयोग होगा ही।

इसका उत्तर यह है कि विषय से यहां रूपादि का ग्रहण होता है, माला, चन्दनादि का नहीं। शंका– यह कथन उचित है, भले ही अर्था को, काम का साक्षात् कारण न माना जाये। किन्तु माला-चन्दन-वसनादि से रूप आदि के उत्कर्ष का संपादन तो होता है अतः रूप के उत्कर्ष का संपादक होने से अर्था को, काम में परम्परा रूप कारण क्यों न माना जाये?

समाधान– इसका उत्तर यह है कि रूपादि का संपादन करने वाला अर्थ नहीं है क्योंकि रूपादि तो स्वतः सिद्ध हैं। यहां यह विचार होता है कि अर्थ मनुष्य में (अपने में) रहे हुए रूपादि के संपादन से काम–जनक है अथवा माला, चन्दनादि में रहे हुए जो रूपादि हैं उनके सम्पादन से

काम-जनक है ? माला चन्दनादि में अथवा अपने मे रहे हुए रूपादि के सम्पादन से यदि अर्थ को कामजनक मानेगें तो प्रत्यक्ष से विरोध आयेगा– क्योंकि पुष्प, चन्दन, वनितादि में रहा हुआ जो गुण है, उसका उत्कर्ष-साधक अर्थ नहीं देखा गया। यदि अन्य में रहे हुए रूपादि के सम्पादन से अर्थ को कामजनक मानते हैं तो वहां यह विचार करना होगा कि क्या भोक्ता में रहने वाले रूपादि का वह सम्पादक है अथवा भोग्य में रहने वाले रूपादि का ? यदि अर्थ को, भोक्ता के रूपादि का सम्पादन माने तो वह उचित नहीं, क्योंकि अर्थ के प्राप्त होने पर भी रूपादि नहीं रहते। अर्थ प्राप्ति होते हुए युद्ध आदि में बाण आदि के लगने से रूपादि चले जाते हैं। प्रतिग्रह लेने से अर्थ प्राप्ति होने पर भी रूपादि नष्ट हो जाते हैं। यहां अर्थप्राप्ति, रूपादि विषय की विनाशिका होने के कारण, काम का नाश करने वाली मानी जायेगी। यदि यह माने कि भोग्य-निष्ठ रूपादि सम्पादन में अर्थ की आवश्यक्ता है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अपना अर्थ भोग्य के अधीन होने से रूपादि की प्राप्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-नाश के द्वारा विषय ही कामजनक होता है। अर्थ के नाश होने पर काम मिलता है। वहां अर्थ विषय में उत्कर्ष उत्पन्न करके कामजनक नहीं होता। इसलिये वैपरीत्य हुआ अर्थात् कभी एक जगह काम-नाश है, कभी एक जगह अर्थनाश है।

यहां शंका होती है कि अपने अर्थ के भोग्याधीन होने पर भी अर्थ के द्वारा भोग्य स्त्री आदि रूप जो अर्थ हैं उसको स्वाधीन करने से स्त्री आदि से उत्कृष्ट विषय सुख की सिद्धि मिलती है। अतः अर्थ, कामजनक होता ही है। अर्थात् स्त्री रूप अर्थ में कामजनकता है, इससे अर्थ, काम जनक ही कहा जायेगा।

इसके समाधान में कथन है कि यदि स्त्री आदि रूप अर्थ का साधक होने से, धन को कामजनक माना जाये तो स्त्री को पुत्र रूप अर्थ प्राप्त होने पर स्त्री रूप का नाश होते देखा गया है। इसलिये वहां विषय नाश होने से काम का नाश भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में वहाँ अर्थ से, धन से कामसिद्धि न होकर काम का नाश ही समझा जायेगा। इस तरह अर्थ, काम का नाशक है, उसका साधन नहीं। इस वस्तु व्यत्यास से, अर्थ से अर्थ की ही प्राप्ति हुई, काम की नहीं।

यहां शंका होती है कि जिसकी इच्छा की जाती है वह विषय ही अर्थ रूप है 'अर्थयते अभीप्स्यते' इति अर्थः– अर्थात् स्त्री आदि विषय ही यहां अर्थ रूप हैं और वह काम के साधक हैं। इसका उत्तर यह है कि अर्थ का यह यौगिक अर्थ है रूढ़ार्थ नहीं। योग मे रूढ़ी

बलवती है। इसलिये अर्थ शब्द स्त्री आदि विषय में प्रसिद्ध नहीं है। द्रव्य को ही अर्थ कहते हैं।

यदि अर्थ को अर्थात् द्रव्य को 'परंपरया काम-जनक' मानेगें तो फिर इसे धर्मजनक भी मानना होगा। ऐसीस्थिति में अर्थ के साधक कर, दण्ड, चोरी आदि सब धर्मजनक कहे जाने लगेगें। तात्पर्य यह है कि परम्परा से जिस तरह अर्थ, काम का साधक है, उसी तरह परम्परा से कर, दण्ड, चोरी आदि भी अर्थ सम्पादक होने के कारण धर्म के साधक माने जायेगें। यह सब कथन असंगत है। लोक में कहीं कहीं अर्थ और काममे साहचर्य देखा गया है इसलिये अर्थ में काम-साधनता है। ऐसी प्रतीति होती है वस्तुतः अर्थ, कदापि काम का साधक नहीं है। यदि अर्थ ही काम का साधक होता तो अर्थ वाले अतिकृपण में भी काम की प्राप्ति मानी जायेगी किन्तु अर्थ होते हुए भी कृपण उससे वंचित ही रहता है और जिनके पास अर्थ नहीं है ऐसे पशु आदि में काम प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। अतः यह कथन कि अर्थ काम का साधन है असंगत है। सन्यासी को, आत्मज्ञानी को, आत्मकाम, आप्तकाम कहा गया है, इसलिये भी यह मानना अनुचित है कि जहां अर्थ है वहां काम है। कृपण के पास अर्थ है किन्तु कामोपलब्धि नहीं है। आत्मज्ञानी के पास अर्थ नहीं है फिर भी आप्तकाम है। कृपण में अन्वय-व्यभिचार है, ज्ञानी में व्यतिरेक व्यभिचार है।

कहीं कहीं अर्थ और काम का साहचर्य देखा गया है। तदनुसार इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव की प्रतीति होती है। इसका संकेत श्लोक के 'हि' पद से किया गया है।

अब यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे, अर्थ को काम का साधन मान भी लिया तो भी यह विचार कर लेना चाहिये कि वह काम कितना और कैसा है ? यदि काम पद से जीवन-निर्वाह ही ग्रहण किया जाये तो ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त वह स्वतः सिद्ध है। वहां अर्थ की कोई आवश्यकता नहीं। यदि काम को इन्द्रियप्रीति रूप मानें तो अग्नि रूप होने के कारण– 'नजातु कामः कामानाम्' इस वचन के अनुसार, जैसे घृत से अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी तरह काम से इन्द्रियों की तृप्ति कदापि सम्भव नहीं, अनुभव से भी यही सिद्ध है। काम की शान्ति के लिये काम में प्रवृत्त होने वाले भ्रांत हैं। यदि विषयों को, इन्द्रियप्रीति का कारण मानते हैं तो उसकी पूर्ति कभी नहीं होगी। विषय-भोग (काम) इन्द्रिय-प्रीति का हेतु नहीं होता।

यहां जो लाभ पद है वह देहली दीपक न्याय से श्लोक के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों से अन्वित है। इसलिये चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने का क्रम - यहां साधन परम्परा के अनुसार इस तरह है अर्थात् काम रूप विषयों से (अन्नादि पदार्थों के सेवन से) अर्थ रूप जीवन सिद्ध होता है। जीवन रहने पर धर्म और ज्ञान होते हैं और इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, तदनुसार काम, अथ,

धर्म और मोक्ष– इस तरह पुरुषार्थ का क्रम जानना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'जीवस्यतत्व-जिज्ञासा' यह कहा गया है। जीव से यहां जीवन समझना चाहिये। 'जीवनं जीवः'। अर्थात् जीवनतत्व जिज्ञासा का साधन है, जीवन का लाभ है 'तत्व विचार'। जीवस्य तत्वजिज्ञासा लाभः लाभ पद तत्व जिज्ञासा से अन्वित है। लौकिक कर्मो से साध्य जो काम और अर्थ है वह जीवन का लाभ नहीं है। धर्म केवल कर्म से साध्य नहीं है, किन्तु श्रुति-बोधिक कर्म से साध्य है। अथवा दैवगति से प्राप्त किया गया अर्थ भी जीवन के लाभ के लिये नहीं है। इसका निर्देश यहां 'च' कार से किया गया है ॥९–१०॥

आभासः—तत्त्वजिज्ञासेत्यत्र सन्देहः—तत्त्वानां जिज्ञासा तत्त्वस्य वेति ? तत्त्वपदेऽपि सन्देहः—तस्य भावस्तत्त्वमनारोपितं रूपं वा ? तस्य भाव इति पक्षे पूर्वोक्तस्याऽभावान्न किञ्चित्तत्त्वं स्यात्। समुदायपक्षेऽभ्रान्तज्ञानविषयत्वेन सर्वमेव तत्त्वं स्यात्। तत्त्वानां जिज्ञासेति तु साङ्ख्यपरिकल्पितानां मध्ये एकस्याऽपि जिज्ञासा कठिना। तत्त्वस्य जिज्ञासेति तु न सर्वेषामेकतत्त्वमस्ति। शास्त्राणामन्योन्यविरोधात्। तस्मात्कथं तत्त्वजिज्ञासेत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थः—यहां संदेह होता है कि तत्त्व-जिज्ञासा इसमें तत्व से बहुत से तत्वों की जिज्ञासा समझना चाहिये अथवा केवल एक तत्व की जिज्ञासा समझना चाहिये ? तत्व पद में भी 'तस्यभावस्तत्वं' उसका भाव यह अर्थ लेना चाहिये। अथवा अनारोपितरूप। यहां यह संदेह है। यदि यहां उसका भाव, यह अर्थ लेते हैं तो उसका भाव जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार का कोई तत्व नहीं है। यदि 'तेषांभावः' अनेकों का स्वरूप-भूततत्व ऐसा समुदाय पक्ष माने तो वह सभी अभ्रान्त पुरुषों के ज्ञान का विषय हो जाने के कारण 'समग्र वस्तुएं ही तत्व' कहीजाने लगेंगी। अब यदि तत्व-जिज्ञासा में तत्वानां जिज्ञासा इस विग्रह के अनुसार सांख्य-शास्त्र द्वारा परिकल्पित तत्वों का ग्रहण करें तो फिर उनमें से एक तत्व की जिज्ञासा का भी विचार करना कठिन है। फिर अन्य तत्वों की जिज्ञासा का तो प्रश्न ही कहां ? तत्वस्य जिज्ञासा- यदि ऐहा अर्थ करें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि सभी शास्त्रों का एक ही समान तत्व नहीं है। शास्त्रों का उसमें परस्पर विरोध है। इसलिये यहां 'तत्व जिज्ञासा' से क्या समझना चाहिये ? इस संदेह का उत्तर देते हैं।

श्लोक– वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥

श्लोकार्थ—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्– इस तरह शब्द के भेद से, पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत जो एक ही ज्ञान है– उसीको तत्व को जानने वाले तत्व कहते हैं।११।

सुबोधिनी— वदन्ति तत्तत्त्वविद इति। यद्यपि सर्वे स्वस्वशास्त्रे तत्त्वविद इति प्रसिद्धास्त-थापि प्रमाणबलविचारेण वेदानां सर्वोपजीवकत्वाद्वेदार्थविदस्तत्त्वविद इति मन्तव्यम् ननु सर्वेऽपि वेदार्थविदः। ऋषित्वात्। सत्यम्। तथाप्यन्योन्यविरोधात्केचनैव तत्त्वविद इति वक्तव्यम्। तत्र येष्वक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधस्ते तत्त्वविद इति मन्तव्यम्। न च ते न सन्त्येवेति मन्तव्यम्। वेदस्य प्रमाणस्य विद्यमानत्वात्। ते किं वदन्तीत्यत आह। यत्त्वद्वितीयं ज्ञानमिति द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वमित्यर्थः। तत्त्वज्ञानं मोक्ष इति सर्वजनीनत्वात् श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेद इत्याऽऽह क्रमेण—**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत इति**। शब्दमात्रं भिद्यते नत्वर्थ-भेदोऽस्तीत्यर्थः ।।११।।

सुबधिनी अनुवाद—यद्यपि सभी अपने शास्त्र में 'तत्ववेत्ता' नाम से प्रसिद्ध हैं तथापि प्रमाण-बल के विचार से सभी के लिये एक मात्र योग्य आश्रय 'वेद' ही है– तदनुसार वेद के अर्थ को जानने वाले ही तत्व के ज्ञाता हैं, यही स्वीकार करना चाहिये। तदनुसार यह कथन कि जो ऋषि लोग हैं उनमें से प्रत्येक ऋषि होने के कारण वेदार्थ का ज्ञाता माना जायेगा, यद्यपि यह सत्य है, तथापि परस्पर विरोध होने के कारण इनमें से कतिपय ऋषि लोग ही वेदार्थ के ज्ञाता हैं, सभी नहीं। इन ऋषिओं में से वही तत्व के ज्ञाता कहे जायेंगे जो वेद की श्रुतियों का आदि से अंत तक ऐसा अर्थ करें कि उनसे अविरुद्ध हो। यहां यह नहीं मान लेना चाहिये कि इस प्रकार से अर्थ को जानने वाला है ही नहीं, क्योंकि वेद रूप प्रमाण के विद्यमान होने से उसके जानकार भी होने ही चाहिये, और वे हैं ऋषि। उनका यह कथन है कि द्वैत– निवर्तक जो ज्ञान है वही तत्व है और तत्व-ज्ञान ही मोक्ष है– यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। वेदोक्त इसी अद्वैत-तत्व को श्रुति-स्मृति तथा पुराणों में क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् शब्द से कहा है। ये शब्द भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही हैं ।।११।।

आभास : तदेवं तत्त्वपर्यन्तं पदार्थानां स्वरूपं क्रमं चोक्त्वा फलितमाह—

आभासार्थ : इस प्रकार तत्व पर्यन्त पदार्थों का स्वरूप एवं क्रम बता कर संप्रति उस क्या सिद्ध हुआ ? वह कहते हैं।

श्लोक– तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चाऽऽत्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ।।१२।।

श्लोकार्थ– उस ब्रह्म-तत्व में श्रद्धा वाले मुनिगण, ज्ञान-वैराग्य युक्त श्रवण से उत्पन्न होने वाली भक्ति द्वारा अपनी आत्मा में भगवान् से साक्षात्कार करते हैं।१२।

सुबोधिनी— तच्छ्रद्दधाना इति । तत्तस्माद्धेतोः । तद्ब्रह्म वा । तत्रैवं क्रमः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा फलमुक्तम् । तच्च साक्षात्कार इति पर्यवसितम् । तत्र विचारसहितप्रमाणेन यद्यपि निर्विचिकित्सं शाब्दज्ञानं भवति तथाप्यन्तःकरणदोषान्न साक्षात्कारः सिद्ध्यति । तदर्थं प्रथमं धर्मः । ततोऽन्तःकरणशुद्धौ वेदादिसत्प्रमाणे श्रद्धा । ततस्तदर्थस्य मननम् । ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कार इव ज्ञानम् । ततो विषयेषु वैराग्यम् । ततः श्रवणादिसाधनभक्तिः । ततः परमभक्तिः । ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपीत्यर्थः । आत्मानं तं भगवन्तमात्मरूपम् । तत्र यावत्साधनं साध्यस्थितिः । तत्र ज्ञानवैराग्ययोः सहभावनिरूपणाद्भक्तिर्मुख्या । तस्याः स्थितिहेतुमाह- **श्रुतिगृहीतयेति** । श्रुत्या हि गृहीता भवति । यथा यथा श्रवणं तथा तथा भक्तिस्थितिः । ततः सर्वमिति ॥ १२ ॥

सुबोधिनी अनुवाद : 'तच्छ्रद्दधाना' में 'तत्' का अर्थ– उस कारण से– अथवा ब्रह्म लिया गया है । वहां इस तरह के क्रम का निर्देश किया गया है कि जीवन का फल तत्व-जिज्ञासा है । उस फल का पर्यवसान भगवत् साक्षात्कार में होता है, अर्थात् जीवन का भगवत्साक्षात्कार अन्तिम फल है । यद्यपि विचारपूर्वक प्रमाण से शब्द के अर्थ का निःसंदिग्ध ज्ञान हो जता है तथापि अन्तःकरण के दोष से भगवत्साक्षात्कार सिद्ध नहीं होता । इसके लिये प्रथम धर्माचरण करना चाहिये । इससे अन्तःकरण के शुद्ध होने पर सत्प्रमाण-रूप वेदादि में श्रद्धा होती है । तदनन्तर वेद के अर्थ का मनन करना चाहिये, तत्पश्चात् निदिध्यासन द्वारा (हृदय में मनन को स्थिर रखने से) साक्षात्कार जैसा ज्ञान होता है । फिर विषयों में वैराग्य होता है, तदनन्तर श्रवणादि साधन-रूप भक्ति होती है । इसके पश्चात् परम भक्ति का उदय होता है । तत्पश्चात् हृदय में तथा बाहर भी सर्वत्र भगवत्साक्षात्कार होता है । यहां 'आत्मानम्' पद से 'आत्मरूप भगवान् समझना चाहिये । यहां उपर्युक्त क्रमानुसार जब तक साधन रहते हैं तब तक प्रभु का साक्षात्कार होता है । श्लोक के 'ज्ञान' वैराग्ययुक्तया' में ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति कही गई है । अतः यहां ज्ञान वैराग्य अप्रधान है और भक्ति मुख्य है । भक्ति की स्थिति में हेतु का निर्देश करते हैं कि श्रुतिगृहीतया जैसे जैसे भगवद् गुण का श्रवण किया जायेगा वैसे वैसे भक्ति का उदय होता जायेगा । तदनन्तर सब कुछ सम्पन्न हो जाता है ।१२।

आभास : एवं द्वितीयप्रकारेण ज्ञानमुक्तम् । तत्र द्वितीये धर्मस्य सम्बन्धमाह—

आभासार्थ : इस तरह दूसरे प्रकार से ज्ञान कहा । यहां इस ज्ञान से, धर्म का जो सम्बन्ध है, उसका निरूपण करते हैं—

श्लोक– अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्ह्यात्मतोषणम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—इसलिये हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ शौनकादि ! वर्णाश्रम विभाग के अनुसार मनुष्यों द्वारा अच्छी तरह आचरित जो धर्म है उसकी उत्तम सिद्धि है– भगवान् का प्रसन्न होना ।

सुबोधिनी—अतः **पुम्भिरिति** । धर्मसामान्यस्य प्रथमे साधनता उक्ता । विशेषस्य तु द्वितीये । यतो भगवत्प्रसादव्यतिरेकेण नाऽन्तःकरणशुद्धिर्न वा रुचिरतो धर्मस्य मुख्यं फलं भगवत्प्रसादः । बीजसंस्कारसंस्कृताः कुर्वन्ति । धर्मपोषकभगवदिच्छया वा । "ममैव कामो भूतानामि" ति वाक्यात् । **पुम्भिरिति** कर्मणि प्रयोगेणैतज्ज्ञापितम्—अनुष्ठाने कर्मैवाऽपक्षीणं न कर्तेति । तदैव हि भगवत्प्रसादः । अन्यथा कर्मणैव फलमिति । **द्विजश्रेष्ठा इति** । द्विजेभ्यः श्रेष्ठास्त्रिजन्मानः । अनेन भवद्भिः क्रियमाणेन कर्मणा भगवांस्तुष्यतीति सूचितम् । वर्णधर्माः शमादयः कालद्रव्ययज्ञादिभेदा वा । गुरुशुश्रूषादय आश्रमधर्माः । शस्प्रत्ययेन च परधर्मो निवारितः तेन च"**विधर्मः परधर्मश्चे**" ति दोषो निवारितः । सम्यगनुष्ठानं कालादिभिः षड्भिः शुद्धैर्ज्ञात्वाऽनुष्ठानम् । स एव वा धर्मः । "**अधर्मो ह्यन्यथा भवेदि**" ति वाक्यात् । सम्यक्सिद्धिः फलम् । यद्यपि "**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठे**" त्यादिश्रुत्या बहूनि धर्मस्य फलानि सन्ति तथापि भगवांश्चेत्तेन परितुष्यति तदा सफलो नो चेद्धर्मो व्यर्थः इत्यर्थः । आत्मार्थं हि सर्वम् । सर्वेषामात्मा च भगवान् । "**येषां न तुष्टो भगवानि**" ति वाक्यार्थो हिशब्देन सूचितः ।।१३।।

सुबोधिनी अनुवाद—प्रथम प्रकार के ज्ञान में सामान्य धर्म की साधनता का निरूपण किया गया । अब दूसरे– प्रकार के ज्ञान में विशेष धर्म की साधनता का विवेचन करते हैं । क्योंकि भगवत् कृपा के विना न तो अन्तः करण शुद्ध होता है और न रुचि ही उत्पन्न होती है । इसलिये धर्म का मुख्य फल है– 'भगवत्प्रसाद' । इस प्रकार का धर्माचरण वही कर सकते है जिनका शरीर उपनिषदोक्त पञ्चाग्नि-विद्या के संस्कार से सुसंस्कृत हो गया हैं अथवा भगवान् जब धर्म-पोषण की इच्छा करते हैं, तब भी ऐसा धर्माचरण होता है क्योंकि भगवद्-इच्छा ही प्राणियों को प्रेरित करती है-'ममैव कामो भूतानाम्' इस वाक्य से भी यही कहा गया है । श्लोक में 'पुम्भिः' मनुष्यों द्वारा अनुष्ठित धर्म– इस कर्मणि प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि अनुष्ठान में कर्म ही विकृत होता है, कर्ता नहीं । जैसे– 'देवदत्तेन ओदनं पच्यते'– यहां कर्मणि प्रयोग में तंदुल कर्म को ही क्रिया का, पच्यते का, खिन्नता रूप फल प्राप्त होता है– कर्ता रूप देवदत्त को नहीं । इसी तरह यहां उत्तम रूप से अनुष्ठित किये गये धर्म में ही उत्तम-रूपता का फल होता है । धर्म ही उत्तम बनता

है कर्ता उसकी प्रतिष्ठा का फल नहीं चाहता। इस तरह जब धर्म उत्तमतया अनुष्ठित होने पर उत्तमरूपता से सम्पन्न होता है तब भगवत्कृपा प्रसाद होता है। यदि इस प्रकार से धर्म का अनुष्ठान नहीं करके किसी कामना से धर्म किया जाये तो वहां भगवत्प्रसाद न होकर, जो कर्ता चाहता है वही फल मिलता है। अर्थात् कामना रहित धर्मानुष्ठान से धर्म ही अच्छा उत्तम बनता है। वहां कर्ता को लौकिक फल नहीं मिलता। इस तरह धर्मा-चरण से कर्ता को भगवत्प्रसाद रूप फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि इस प्रकार से कामना रहित धर्माचरण न किया जाये तो कर्म से ही काम्य फल मिलता है भगवत्प्रसाद नहीं।

द्विजश्रेष्ठाः– यहां श्रेष्ठ पद से यह सूचित किया गया है कि आप द्विजों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपके तीन जन्म हुए हैं, प्रथम ब्राह्मण से, फिर यज्ञोपवित संस्कार से और फिर ज्ञान सहित भक्ति से। इस तरह त्रिप्रकार से संस्कृत होने के कारण आप त्रिजन्मा हैं। इसलिये आप द्वारा समाचरित कर्म से भगवान् प्रसन्न रहेंगे।

शम, दम, तप, शौच आदि वर्ण धर्म हैं अथवा कालयज्ञ (अग्निहोत्रादि), द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, आदि गीता में कहे गये भी वर्ण धर्म हैं। गुरु सेवा आदि आश्रम धर्म हैं। यहां श्लोकोक्त 'वर्णाश्रमविभागशः' में जो 'शस्' प्रत्यय है उसका 'मंगल' अर्थ है। इसके द्वारा अन्य धर्म का परधर्म का निवारण किया गया है– सप्तमस्कंधोक्त विधर्म परधर्म आभास, उपमा तथा छल– अधर्म की इन पांच शाखाओं के दोष का निवारण किया गया है। अर्थात् स्वधर्म का पालन करें, परधर्म का नहीं। क्योंकि स्वधर्म ही 'मंगलकारक' है– परधर्मो भयावहः विधर्मः परधर्मश्च- परधर्म विधर्म है, अमंगलकर है अतः उसका पालन नहीं करना चाहिये।

स्वनुष्ठितस्य– काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, देश तथा कर्म– इन छहों की परिशुद्धिपूर्वक समझ कर अनुष्ठान करना चाहिये तभी यह सम्यक् अनुष्ठान कहलायेगा। इस तरह से अनुष्ठित ही धर्म कहलाता है अन्यथा अधर्म होता है। ऐसे धर्म की संसिद्धि– सम्यक्फल– भगवद् परितोष है। 'धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'– धर्म से ही सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है। इस श्रुति के अनुसार यद्यपि धर्म के बहुत से फल हैं तथापि यदि भगवान् उससे परितुष्ट होते हो तभी वह धर्म फल कहा जायेगा–नहीं तो वह धर्म व्यर्थ है। क्योंकि धर्म आदि का सब फल आत्मा के लिये है और सब की आत्मा भगवान् है। तदनुसार 'येषांन तुष्टो भगवान्' जिससे भगवान् प्रसन्न नहीं हुए उसका सब व्यर्थ है। अर्थात् जो आत्मरूप भगवान् को प्रसन्न करने के लिये धर्माचरण नहीं करता वह कृतघ्न है और कृतघ्न द्वारा आचरित धर्म का फल कुछ नहीं होता। यहां 'ह्यात्मतोषण' में 'हि' अव्यय इसी आशय का निर्देश करता है ।।१३।।

आभास : तत्रैवं सन्देहः—बहवो वर्णाश्रमविभागेन धर्मान्कुर्वन्ति । न च तेषु भगवच्छास्त्रानुसारिणी भक्तिरुपलभ्यते अतो ज्ञायते, भगवान्न परितुष्ट इति । तथाच कर्मकरणदशायां व्यभिचारदर्शनात्कथं निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः ? अतो येषु धर्मेषु न व्यभिचारस्ते विशेषेण कर्तव्या इत्याह—

आभासार्थ : यहां यह संदेह होता है कि बहुत से लोग वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्माचरण करते हैं परन्तु उनमें गीता, भागवत आदि भगवद्-शास्त्रोक्त भक्ति नहीं देखी जाती । इससे ज्ञात होता है कि भगवान् उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए । यदि भगवान् प्रसन्न होते तो भक्ति भी अवश्य होती । अतः धर्माचरण करते हुए भी जब भक्ति रूप फल नहीं दिखाई देता तो फिर उनकी वर्णाश्रम धर्म में निःसंदिग्ध प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है ? इस संदेह के निराकरणार्थ यहां जिन धर्मों के करने से भक्ति अवश्य होती है उन धर्मों को विशेष रूप से करना चाहिये, इसी के विवेचनार्थ कहते हैं :—

श्लोक– तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।१४।।

श्लोकार्थ— इसलिये एकाग्र मन से व्यग्रतारहित मन से, भक्तों के पति भगवान् का नित्य श्रवण, कीर्तन, ध्यान तथा पूजन करना चाहिये ।।१४।।

सुबोधिनी—तस्मादिति । यस्मादन्यत्र व्यभिचारोऽपि सम्भवत्यतः श्रवणादिकमेव कर्तव्यम् । श्रवणादिकमपि धर्मः । "**शृणुयाच्छ्रावयेदि**" ति विधिस्पर्शात् । **एकेन मनसेति** । वैयग्र्याभावयुक्तेन । श्रवणस्य यथा न व्यभिचारस्तथाऽग्रे वक्ष्यति । अन्यधर्मपरित्यागो वा सूच्यते—**एकेनेति** ।**भगवानिति** । श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद्ब्रह्मणः । तथापि वैष्णवशास्त्रानुसारेणैतदेव सूचयति—**सात्वतां पतिरिति** । शुद्धे सत्वे आविर्भूतः सात्वो भगवान् । स वर्तते येषां ते सात्वताः तत्र "**बहुलं छन्दसी**" ति वकारलोपस्तेषामलौकिकत्वाय । तेषां पतिः सर्वनिर्वाहकः । स्वस्याऽपि तथात्वे न काचिच्चिन्तेति भावः । **श्रवणादीनां** सुलभत्वाय वा । यतः स्वपतिः सर्वैरेव श्रूयते कीर्त्यते च । इदं च श्रवणादिकं धर्मरूपम् । प्रकरणात् । द्वितीयस्कन्धे तु भक्तिरूपो वक्ष्यते । भगवद्वाचकैः पदैर्वाक्यैश्च भगवति शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः **श्रवणम्** । शक्तितात्पर्यनिर्धारबोधनं **कीर्तनम्** । तथा ज्ञातानां वा स्वत एवोच्चारणम् । उभयं सङ्गृहीतं चकारेण । अन्योन्यनिर्वाहकत्वं च । तदग्रे वक्ष्यते । इदं द्वयं बाह्येन्द्रियसाध्यम् । आन्तरमाह—**ध्येयः पूज्यश्चेति** । **ध्यानं** भगवति चित्तस्थिरीकरणम् । भगवन्मूर्तेरनुसन्धानं वा । पूजा बाह्यान्तरभेदेन द्विधा चका-

रेण सङ्गृहीता । व्यासङ्गान्तराभावाय—**नित्यदेति** । तस्मादयमेव मुख्यो धर्मस्सर्वथा कर्तव्य इति ।।१४।।

सुबोधिनी अनुवाद—वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्म करने पर भक्ति उत्पन्न होती है । ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिये जिनसे भगवत् प्रसाद तथा भगवद् भक्ति निःसंदेह प्राप्त होती है, ऐसे श्रवण, कीर्तनादि धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये । यदि यह कहा जाये कि विधि-विहित नहीं होने से श्रवणादि धर्म नहीं हैं तो यह उचित नहीं है । क्योंकि शृणुयात्-श्रावयेत् इत्यादि वाक्यों से श्रवण-कीर्तन आदि भी विधि-बोधित होने के कारण धर्म हैं ।

ऐकेनमनसा– व्यग्रता रहित मन से यदि श्रवणादि किये जायें तो भक्ति अवश्य उत्पन्न होती है । वहां फल का कभी व्यभिचार नहीं होता । यही बात अग्रिम प्रसंग में कहेंगे । अथवा एकेन द्वारा श्रवणादि के अतिरिक्त अन्य धर्म के परित्याग का निर्देश किया गया है । यहां श्रवण, जीव का नहीं, अपितु साक्षात् ब्रह्म का करना चाहिये, इसलिये भगवान् शब्द का यहां प्रयोग किया गया है । वैष्णवशास्त्र के अनुसार भी यही सूचित होता है और इसीलिये श्लोक में 'सात्वतांपतिः' का प्रयोग किया गया है । सात्वतांपतिः– शुद्ध सत्व में आविर्भूत होने वाले भगवान् को सात्व कहते हैं । ऐसे भगवान् जिसमें स्थित हों उसको– उस भक्त को सात्वत् कहते हैं । यद्यपि यहां व्याकरण के नियमानुसार 'मतुप्' प्रत्यय से शुद्ध प्रयोग सात्ववत् बनता है तथा इसकी षष्ठी सात्ववतः बहुवचन में सात्ववतो–होती है परन्तु बहुलंछंदसि–के अनुसार यहां वका लोप, भक्तों की अलोकिकता के निर्देशार्थ किया गया है । जिस प्रकार यह छांदस् प्रयोग व्याकरण के नियमों से ऊपर हैं उसी प्रकार भक्तगण भी लौकिक से अतीत अलौकिक हैं । वस्तुतः यहां सात्वतां का अर्थ वही है जो सात्ववतां का है । दोनों पदों का अर्थ एक ही है । भक्तों के पति । जो सर्वस्व देकर भी स्वकीय की रक्षा उसका निर्वाह करता है वही पति है । पति परम आनन्द का प्रदाता है । इसी अर्थ में भगवान् भक्तों के पति हैं । और यदि वे हमारे भी पति बन जायें तब किसी भी प्रकार की चिन्ता को अवकाश ही कहां ? अथवा अपने पति के गुणों का श्रवण अत्यन्त सुलभ होने के कारण यहां पति शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि अपने पति से सम्बन्धित बातें सभी सुनते हैं ओर सुनाते भी हैं । यहां धर्म का प्रकरण चल रहा है अतः यह श्रवण-कीर्तन-ध्यान तथा सेवा आदि धर्म रूप हैं तथा द्वितीय स्कन्ध में 'तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्' आदि से कहे गये श्रवण कीर्तनादि भक्ति रूप हैं ।

भगवद् वाचक पदों और वाक्यों द्वारा भगवान् में शक्ति- तात्पर्य के निर्णय को श्रवण कहते हैं । शक्ति तात्पर्य के निर्णय को कहना कीर्तन कहलाता है । अथवा जाने हुए भगवद्गुणों

का स्वतः उच्चारण करते रहना कीर्तन है। कीर्तितव्यश्च– यहां चकार से श्रवण तथा कीर्तन दोनों का ग्रहण किया गया है दोनों ही करते रहना चाहिये। विना श्रवण के कीर्तन तथा विना कीर्तन के श्रवण नहीं हो सकता– क्योंकि दोनों एक दूसरे के निर्वाहक पूरक हैं और इस विषय में अग्रिम प्रसंग पर हम कहेंगे। श्रवण तथा कीर्तन बाह्य इन्द्रियों से किये जाते हैं– ध्यान तथा पूजन आन्तर इन्द्रियों से साध्य हैं। भगवान् में चित को स्थिर करने का नाम ध्यान है अथवा भगवन्मूर्ति का अनुसंधान भी ध्यान है। 'पूज्यश्च' में चकार से बाह्य तथा आभ्यंतर मानसी भेद से दो प्रकार की पूजा ग्रहण की गई है। 'नित्यदा' ये यह बताया है कि अन्य कोई प्रकार की आसक्ति न रख-कर अथवा अन्य किसी भी कार्य में संलग्न न रह कर सदा ध्यान तथा पूजन करते रहना चाहिये ।।१४।।

आभास : ननु तथापि रुच्यभावात्कथमेतत्सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ : ऐसा होते हुए भी यदि रुचि ही न हो तो फिर श्रवण कीर्तनादि कैसे होंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक– यदनुध्याऽसिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ।।१५।।

श्लोकार्थ– उस भगवान् की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा, जिसके ध्यान से, जिसके ध्यानरूपी असि से, खड्ग से सज्ज निपुण पुरुष कर्म तथा कर्मग्रंथि के बन्धन को काट डालते हैं।१५।

सुबोधिनी—यदनुध्याऽसिनेति। सर्वत्राऽलौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद्रुचिरुत्पद्यते। तत्र भगवच्छास्त्रस्याऽप्रसिद्धावपि योगादीनां प्रसिद्धत्वाद्भगवद्ध्यानं प्रसिद्धम्। तस्याऽप्येवं माहा-त्म्यमङ्गभूतस्याऽपीत्यसिपदप्रयोगः। यस्याऽनुध्यानमेवाऽसिः। न चाऽपि तेन भगवत्प्रसादः। किन्तु तेनैव युक्ताः कर्म च्छिन्दन्ति। कर्मसु विद्यमानेषु जन्माऽनुच्छेदात्। तेषां चाऽभुक्तानामक्षयात्। भोगेन वा तत्क्षये तद्धेतुना पुनः कर्मान्तरार्जनात्कर्मविच्छेदः कठिनः। तदपि ध्यानेन भवतीति छिन्दन्तीत्युक्तम्। ननु किं कर्मच्छेदमात्रेण। जीवभावस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याऽऽय—**ग्रन्थि-निबन्धनमिति**। ग्रन्थिरविद्यया चिदचिद्ग्रन्थिः। मोहग्रन्थिश्च। तन्नितरां बध्नातीति ग्रन्थिनिब-न्धनम्। पूर्वं वासनारूपेण विद्यमानस्य कर्मणैव दृढीकरणम्। अतस्तदभावे सोऽपि गमिष्यतीति भावः। घुणाक्षरन्यायं वारयति बहुवचनम्। अत्र हि नैपुण्यमपेक्ष्यते। अनुध्यानस्याऽन्यत्र विनियो-

गसम्भवात् । अतो योगसिद्धिमनपेक्ष्य ज्ञानेनाऽविद्यामेव निवर्तयन्ति ते कोविदाः । तत्र ध्यानस्य स्वतो माहात्म्यजनकत्वं नास्ति । विषयध्यानस्य सुतरां बन्धहेतुत्वात् । अतो भगवन्माहात्म्येनैव तस्य तथात्वमित्याह—**तस्येति** । तादृशस्येत्यर्थः । यत्र तद्धर्मेणाऽपि कार्यसिद्धिस्तत्र यदा कथाभिः स एव चित्ते युक्तो भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**को न कुर्यादिति** । अकर्तॄणां माहात्म्यज्ञानाभावः ।१५।

सुबोधिनी अनुवाद— अलौकिक पदार्थो में उनके माहात्म्य-श्रवण से ही, सर्वत्र रुचि उत्पन्न होती है । यद्यपि भगवद् शास्त्र इतना प्रसिद्ध नहीं है- तथापि योग आदि प्रसिद्ध होने के कारण भगवद् ध्यान प्रसिद्ध है । भक्ति के अंगभूत योग के महत्व को बताने के लिये, ध्यान को यहां असि-खड्ग कहा है अर्थात् भगवान् का ध्यान ही खड्ग है । यहां यह नहीं मानना चाहिये कि भगवद् ध्यान रूप तलवार से भगवत्प्रसाद प्राप्त किया जाता है किन्तु इस ध्यान रूप खड्ग से सुसज्ज व्यक्ति कर्म को काट डालने में समर्थ होते हैं । जबतक कर्म है, तबतक जन्म-मरण का उच्छेदन नहीं किया जा सकता । जब तक कर्मों का भोग नहीं किया जायेगा' तब तक उनका क्षय नहीं होगा । अब कर्मों को भोग कर यदि उनका क्षय करें तो उनका उपभोग करते हुए पुनः दूसरे कर्म एकत्रित हो जाते हैं अतः कर्मों का उच्छेदन अत्यन्त कठिन है फिर भी ध्यान से यह सम्भव है । भगवान् का ध्यान करने से कर्मो का छेदन हो जाता है इसीलिये यहां 'छिन्दन्ति' ऐसा कहा है ।

यहां शंका होती है कि केवल कर्मों के छेदन से क्या होगा ? जब जीव भाव विद्यमान है तब केवल कर्मों के न रहने से क्या फल होगा ? इसका उत्तर यह है कि 'ग्रंथिनिबन्धनम्' भगवान् की अविद्या नामक शक्ति द्वारा चिद्. अचित् ग्रंथि का तथा मोहग्रंथि का निरन्तर निर्माण सम्बन्ध कराने वाले ये कर्म ही हैं । प्रथम से ही वासना रूप से विद्यमान जो चिद्-अचिद् अथवा मोहग्रंथि है उसको कर्म ने ही दृढ़ किया है इसलिये कर्मों के नाश होने पर जीव भाव भी अपने आप निवृत्त हो जाता है ।

यहां यह शंका की जाती है कि 'घुणाक्षर-न्याय' के अनुसार जिस तरह कीट द्वारा कर्तित बांस पर कभी कभी अप्रत्याशित रूप से अक्षर उभर आते हैं ऐसा कभी विरल अवस्था में ही घटित होता है उसीतरह कदाचित् किसी एक व्यक्ति का कर्म-च्छेदन हो गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इसी प्रकार से सभो के कर्मों की निवृत्ति हो जायेगी । इस शंका के समाधान में यह कथन है कि यहां घुणाक्षर-न्याय जो कादाचित्क है, लागू नहीं पड़ता यहां तो भगवद् ध्यान से सभी व्यक्तिओं की कर्म ग्रंथि निवृत हो जाती है और इसीलिये यहां 'कोविदाः' इस बहुवचनान्त-पद का प्रयोग किया गया है ।

'कोविदाः' पद से यह भी सूचित होता है कि यहां ध्यान में निपुणता अपेक्षित है यदि ध्यान में निपुणता न हो तो किसी फल की कामना से किये गये उस ध्यान का योग-सुलभ किसी अणिमा-महिमा जैसी सिद्धि में, विनियोग हो सकता है। तदनुसार योग-सुलभ-सिद्धियों की अपेक्षा न रख कर जो व्यक्ति ज्ञान से अविद्या को ही निवृत्त करते हैं वही कोविद-निपुण कहलाते हैं।

यहां केवल ध्यान का अपने आप में कोई माहात्म्य नहीं है, क्योंकि विषयों का ध्यान नितांत बन्धनकारक है। ध्यान का महत्व भगवद् माहात्म्य से है अर्थात् भगवद् ध्यान में ही, ध्यान का माहात्म्य है, हर किसी के ध्यान में नहीं। जहां भगवद् ध्यानरूप धर्म से ही कर्म बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं वहां भगवत्कथाओं द्वारा तो वही भगवान् हृदय में निरन्तर निवास करते हैं। ध्यान से भी उत्तम इस प्रकार की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा ? जो कथा में प्रीति नहीं रखते उनको कथा के माहात्म्य का जरा भी ज्ञान नहीं है ॥१५॥

आभासः— एवं द्वितीया भक्तिर्निरूपिता। एवं ज्ञानभक्ती मध्यमे निरूप्य, उत्तमे निरूपयति **शुश्रूषोरि**त्यादिसप्तभिः—

आभासार्थः— इस तरह भतवत्तोष-पर्यन्त भगवत्कथा श्रवणादिरूप धर्म परम्परा द्वारा, द्वितीय प्रकार की भक्ति का निरूपण किया गया। इस प्रकार मध्यमें ज्ञान और भक्ति का विवेचन करके संप्रति 'शुश्रूषोः श्रद्धानस्य'– इत्यादि से अग्रिम सात श्लोकों में उत्तम ज्ञान और भक्ति का निरूपण करते हैं—

श्लोक– शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥

श्लोकार्थं— हे विप्रो ! पवित्र तिर्थो का सेवन करने से, तथा भक्तों की परिचर्या पूर्वक उनमें तथा उनके धर्मो में श्रद्धा रखने वाले श्रवणेच्छुकों को वासुदेव की कथा में प्रीति रुचि होती है।१६।

सुबोधिनी— अत्र हि फलमुखानि साधनानि निरूप्यन्ते येषु व्यभिचारशङ्काऽपि नास्ति। वैराग्यं च हेतुः। तत्राऽयं क्रमः। आदौ गृहत्यागेन तीर्थपर्यटनम्। अन्यथा महत्सेवायामुद्वेगः स्यात्। ततो महत्सङ्गः। ततस्तेषां सेवा। ततो भगवत्कथाश्रवणम्। ततः कथारुचिः। ततः कथायान्तेषु च श्रद्धा। ततः शुश्रूषेति। एवमेतादृशधर्मेण स्वरूपोपकारेणाऽव्यभिचारिणी शुश्रूषोत्पद्यते। अत्र

पूर्वपूर्वसाधनानां दृढत्वान्नोत्तरेषां निवृत्तिः तादृशाधिकारो दुर्लभ इति सूचितम् । शुद्धसत्त्वे ह्याविर्भूतस्य श्रवणे सद्यश्चित्तप्रसाद इति **वासुदेवेत्युक्तम्** । अस्याऽङ्गीकाराय महत्पदप्रयोगः पुण्यरूपं तीर्थं पुण्यतीर्थम् । कुरुक्षेत्रं गङ्गा च । तयोर्नितरां सेवनं देववज्जलस्य सेवनम् । नत्ववहेलनं कथञ्चिदपि ।।१६।।

सुबोधिनी अनुवादः— इस श्लोक में उन फलोन्मुख साधनों का निरूपण है जिनमें फलाभाव की शंका ही नहीं– जिनसे निश्चय फल सिद्धि होती है । भक्ति में वैराग्य ही कारण है जिसका क्रम इस प्रकार है– प्रथम घर के त्यागपूर्वक तीर्थाटन करना अन्यथा अर्थात् ऐसा न करने से महापुरुषों की सेवामें उद्वेग संभव है । फिर महापुरुषों की संगति होती है, तदनन्तर उनकी सेवा करने का तथा उनसे भगवत्कथाश्रवण का सहज अवसर मिलता है । फिर कथा में रुचि उत्पन्न होती है फिर कथा में तथा उन भगवदीयों में श्रद्धा का उदय होता है । इस तरह भक्ति के स्वरूप में उपकारक ऐसे धर्माचरण से अव्यभिचारिणी-अनन्य केवल भगवत्कथा की ही श्रवणेच्छा जन्म लेती है । इस तरह वैराग्य, महत्संग, सेवा, भगवत्कथाश्रवण आदि पूर्व पूर्व में आचरित साधनोंके दृढ़ होने से आगे आगे के उत्तरोत्तर साधन भी स्थिर होते जाते हैं । उनकी निवृत्ति कभी संभव नहीं है । अर्थात् इस प्रकार के अधिकार की प्राप्ति दुर्लभ है । यहां वासुदेव पद से यह कहा गया है कि चित्त के शुद्ध-सत्व से युक्त होते ही उसमें भगवान् का आविर्भाव होता है तथा इसतरह आविर्भूत भगवान् की कथा के श्रवण से तत्काल चित्त में प्रसन्नता का उदय होता है । श्लोकस्थ 'महत्सेवया' में 'महत्' पद से भगवदाश्रित भक्तों का ग्रहण किया गया है और ऐसे भगवदीयों के आश्रय से अथवा उनकी परिचर्या करने से, किरात, हूण, अन्त्यज आदि का भी अंगीकार हो जाता है ।

पुण्यतीर्थ निषेवणात्– यहां पुण्य तीर्थ पद से पुण्यरूप जो तीर्थ हैं, उनका ग्रहण किया है, जैसे कुरुक्षेत्र, गंगा आदि । इनके जल का देवता की तरह सेवन करने से अथवा कभी भी उनकी अवहेलना न करने से, भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न होती है ।।१६।।

आभास : ततः किमत आह—

आभासार्थ : इसके अनन्तर क्या होता है ? उसको कहते हैं–

श्लोक– शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ।।१७।।

श्लोकार्थं— जिनके श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप हैं तथा जो सत्-पुरुषों के मित्र हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कथा का श्रवण करने वालों के हृदय में रहते हुए उनके (भक्तों के) पापों को विदीर्ण कर देते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी— शृण्वतामिति। एतादृशसाधनेनोत्पन्नायां शुश्रूषायां न श्रवणादिनिवृत्तिः कदाचिदपीति शृण्वतामित्युक्तम् । **स्वकथा इति**। स्वरूपभूताः कथाः । स्वीयकथात्वे भगवतः स्वतन्त्रत्वान्न कार्यकरणं सम्भवति । कथाया अपि स्वतो माहात्म्ये तु तयैव वशीकृतः सर्वं कुर्यादिति । एतादृशकथाबाहुल्यं कृष्णावतार एवेति **कृष्ण** इत्युक्तम् । भक्तियोगविधानार्थं चाऽवतारः निरन्तरमुत्पन्नानां पापानां निवृत्तौ नाऽन्यदपेक्ष्यते साधनं किन्तु श्रवणकीर्तनाभ्यामेव भवतीति, शुद्धं हृदयं भगवान्प्रविशतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**पुण्यश्रवणकीर्तन इति**। श्रोतृवक्तृदोषैर्न श्रवणकीर्तने सम्बध्येते अपहतपाप्मत्वात्तयोः । ततश्च श्रवणकीर्तने उत्पद्यमाने पापसामानाधिकरण्ये (?) नोत्पद्येते एव । सूर्योदयसम्भावनायामेव तमोनिवृत्तिवच्छ्रवणसम्भावनायामेव पापनिवृत्तिरित्यर्थः । बहिः स्थितस्याऽन्तः कार्यकरणाऽसम्भवादिच्छामात्रेण तत्करणे लोकानां प्रतीत्यभावेनाऽभजनापत्तेर्दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया असम्भवात्सर्वत्र स्थितस्य क्लेशाऽभावाच्च हृद्यन्तःस्थित एव करोति । हृदये हि केचन पदार्था बहिःस्थिता अपि भवन्ति । केचनान्तःस्थिताः तत्र येषु विस्मरणसम्भावना ते बहिः स्थिताः । प्रकृते भगवतो विस्मरणसम्भावनाऽपि नास्तीत्यन्तःस्थित इत्युक्तम् । तादृशस्य तथा करणमुचितमिति भावः । अभद्राणि कामादीनि । पापस्य पूर्वमेव निवृत्तत्वात् । विशेषेण धूननं शिथिलीकरणम् । यथा जलकश्मलवत्पुनर्मेलनं न भवति तथेत्यर्थः । तथाचाऽस्मिन्पक्षे प्रथमशृङ्खला स्वसाध्या द्वितीया भगवत्साध्या । तदैव तृतीया स्वस्मिन्भवतीति क्रमेण बोध्यते । कामादीनामशिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यत इति । ननु भगवत एवं करणे को हेतुस्तत्राऽऽह—**सुहृत्सतामिति**। सुहृत् सहकार्यकर्ता । मित्रमिति यावत् । सुहृद्भिः श्रवणाद्युपदेशेन प्रथमपरम्परायां कृतायां द्वितीयां चेद्भगवान्न कुर्यात्तदा मित्रत्वं भज्येतेति ।।१७।।

सुबोधिनी अनुवाद— इस प्रकार के साधनों से भगवत्कथा श्रवण करने की इच्छा के एक बार उत्पन्न हो जाने पर वह कभी निवृत्त नहीं होती और इसीका निर्देश करने के लिये 'शृण्वतां' में वर्तमान काल के सूचक 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है– क्योंकि यह श्रवणक्रिया निरन्तर वर्तमान ही रहती है । स्वकथा का अर्थ है, भगवत्स्वरूपात्मक कथा स्वरूपभूत कथा । स्वकथा का अर्थ 'भगवान् की कथा' करें तो यहां भगवान् की स्वतंत्रता होने से वे श्रोता के हृदय में प्रवेश करें या न भी करें, ऐसी अनिश्चितता से फल की संभावना नहीं रहती, फल मिले भी, न भी मिले, अनिष्ट की निवृत्ति में संशय ही बना रहेगा । तदुपरान्त भगवान् की कथा इस अर्थ से यह

भी सूचित होता है कि कथा का स्वयं में कोई महत्व नहीं। भगवान् से सम्बन्धित होने के कारण उसका महत्व है। अतः स्वकथा का अर्थ है स्वरूप-भूत-कथा। यहां कथा का अपना स्वतन्त्र माहात्म्य होने से भगवान् उस कथा के अधीन रहते हुए सबके अभद्रों का नाश कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कथा में और भगवान् में कोई भेद नहीं— दोनों एक ही हैं।

भगवान् को वश में करने वाली इस प्रकार की कथाओं का बाहुल्य कृष्णावतार में ही है, तदुपरान्त कृष्णावतार मुख्यतः भक्तियोग के विधानार्थ ही है। यह सूचित करने के लिये यहां कृष्ण पद कहा है। निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाले जिन पापों की निवृत्ति में अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, उन पापों की निवृत्ति भगवत्कथा के केवल श्रवण कीर्तन से ही हो जाती है। शुद्धहृदय मे ही भगवान् प्रवेश करते हैं— 'पुण्यश्रवण कीर्तनः' से यही अभिप्राय है। आशय यह है कि श्रोता तथा वक्ता के दोष युक्त होते हुए भी श्रवण-कीर्तन कभी दोषयुक्त नहीं होते, पुण्य रूप ही रहते हैं। क्योंकि श्रवण-कीर्तन भगवान् की तरह ही अपहत-पाप्मा पुण्यरूप ही हैं। श्रवण कीर्तन के होते हुए पाप रहते ही नहीं। सूर्योदय की संभावना से हो जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार श्रवण कीर्तन की संभावना होते ही पाप की निवृत्ति हो जाती है।

बहिःस्थित भगवान् का हृदय के भीतर कार्य करना असम्भव है। यदि इच्छा मात्र से हृदय में भी भगवान् पापनिवृत्ति कर दें तो भगवान् ने ही यह पाप-निवृत्ति की है, ऐसी प्रतीति न होने के कारण भगवद् भजन में कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, जब तक प्रत्यक्ष संभव हो तब तक अप्रत्य की कल्पना करना उचित नहीं। सर्वत्र अन्तस्थित रहने के कारण भगवान् को पाप मिटाने में किसी प्रकार का क्लेश भी नहीं करना पड़ता। इसलिये हृदय में स्थित् भगवान् ही भगवत्कथा श्रवण संभावना मे ही पापों की निवृत्ति कर देते हैं हृदय मे बाहर के भी कितने ही पदार्थ होते हैं। कई पदार्थ अन्तःस्थित ही हैं। इनमें जिन पदार्थों के विस्मरण की संभावना हो उनको बहि— स्थित समझना— यहां तो भगवान् अन्तःस्थित हैं अतः उनके विस्मरण की संभावना ही नहीं और इसलिये यहां हृदय के भीतर स्थित भगवान् 'अन्तःस्थितः' यह पद कहा है। तदनुसार अन्तः स्थित भगवान् पाप का नाश कर देते हैं यह कथन उचित है।

यहां अभद्र पद से काम, अविद्या और कर्म लिये गये हैं, पाप नहीं लिया गया— क्योंकि पाप तो श्रवण कीर्तन की संभावना मे ही निवृत्त हो चुका होता है। हृदय— स्थित भगवान् स्वभक्त के काम, अविद्या, कर्म आदि को विशेष रूप से मंथन करके इतना शिथिल बना देते हैं कि— जल में विष की तरह इनका पुनः मिलन आगमन नहीं हो सकता (अर्थात् जिस तरह भगवान्

ने समुद्र को मथ कर उसको इतना निर्विष कर दिया कि विषय पुनः समुद्र में नहीं मिल सकता, उसी तरह भगवान् स्वकीय भक्त की अविद्यादि को मथ कर एक बार जब दूर कर देते हैं तब वह फिर कभी भी भक्त में अपनी स्थिति नहीं कर सकते।)

'शुश्रूषो श्रद्दधानस्य' इस सोलहवें श्लोक से कही गई साधन-परंपरा रूप प्रथम शृंखला स्वसाध्य अर्थात् भक्तसाध्य है तथा शृण्वतां स्वकथा श्लोक से कही गई कामादि की निवृत्ति रूप द्वितीय शृंखला भगवत् साध्य है। इन दोनों शृंखलाओं के सिद्ध होने पर नष्टप्रायेष्वभद्रेषु- इस श्लोक से कही गई तृतीय शृंखला का सम्बन्ध भक्त से है- वह भक्त में होती है। इस तरह यहाँ पूर्वोक्त तीनों श्लोकों से १६, १७, १८ से यथाक्रम तीनों शृंखलायें बतायी गयी हैं। जब तक काम, अविद्या तथा कर्म शिथिल नहीं होते, तब तक भक्ति का उदय नहीं होता।

यहां शंका करते हैं, कामादि को शिथिल करने में भगवान् का क्या हेतु है उसके उत्तर में कहते हैं कि- 'सुहृत्सताम्' भगवान् सत्पुरुषों के सुहृद् हैं, अर्थात् उनके साथ कार्य करते हैं, सुहृत् सहकार्यकर्ता- भगवान् सत् पुरुषों के मित्र हैं। श्रवणादि के उपदेश पूर्वक भगवदीय सुहृदों द्वारा प्रथम परम्परा के सिद्ध किये जाने पर शृण्वतांस्वकथा से कही गई द्वितीय परम्परा को यदि भगवान् सिद्ध पूर्ण नहीं करते तो मैत्री भंग का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।१७।

आभास : धुतेषु कामादिषु यत्स्यात्तदाह—

आभासार्थ- कामादि के शिथिल होने पर जो फल होता है उसे कहते हैं-

श्लोक- नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।१८।।

श्लोकार्थ- कामादि अभद्रों के नष्टप्राय हो जाने पर नित्य ही भगवत्कथा सुनने से भगवद्भक्तों की सेवा उनकी कथा से उत्तम श्लोक भगवान् में स्थिरभक्ति होती है ।।१८।।

सुबोधिनी—नष्टप्रायेष्विति। धुता एव कामादयो न नाशिता इति क्वचित्क्वचित्तेषां सत्त्वं प्रतीयते। श्रवणे आग्रह इव प्रतिबन्धे क्रोध इव सत्सङ्गे लोभ इवेत्यादि बोधयितुं प्रायग्रहणम्। तथाच तेषां प्रतिबन्धकत्वाभावाद्भगवत्कथाया नित्यं श्रवणम्। भगवद्भक्तानां च सेवनं च नित्यं भवतीत्याह—**नित्यमिति।** पूर्वं कथायाः श्रवणमेव। इदानीं देववत्सम्भावनमिति सेवार्थः। एवं कथयां क्रियमाणायां भगवति परमप्रेमोत्पद्यत इत्याह—**भगवतीति।** अत्र सर्वत्र भगवच्छब्देन शुद्धं

परं ब्रह्मोच्यते । **उत्तमश्लोक इति** । उत्तमैः श्लोक्यत इति, उत्तमा वा श्लोका यस्येति । सद्भिः कथया च सहिते भक्तिर्भवतीत्यर्थः । ततश्च जातायामपि भक्तौ सन्तः कथाश्च न त्यज (?) न्त इति भावः । महताऽपि बाधकेनाऽचलनं निष्ठा । निष्ठां प्राप्ता नैष्ठिकी । तदा हि कालाद्युपद्रवा न स्फुरिष्यन्तीत्यर्थः ।।१८।।

सुबोधिनी अनुवाद—कामादि शिथिल हो जाते हैं किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता । कहीं कहीं उनकी सत्ता प्रतीत होती है । जैसे– भगवत्कथा श्रवण में, आग्रह के रूप में, श्रवणादि में विघ्न आने पर, क्रोध के रूप में, सत्संग आदि में, लोभ के रूप में, इस तरह अमुक रूप में कामादि सत्ता की प्रतीति का निर्देश करने के लिये नष्टप्रायेषु में प्रायः शब्द कहा है । यहां ये आग्रह क्रोध लोभ में आदि स्वरूप से लौकिक कामादि रूप नहीं है तथापि उनमें भगवद् सम्बन्धी कामादि की प्रतीति मात्र होती है और उसी का निर्देश सुबो० ने 'इव' शब्द से किया है । यहां 'इव' श्लोकस्थ प्रायः का तात्पर्यार्थ रूप है । इसलिये यहां भगत्सम्बन्धी ये कामादि विघ्नरूप नहीं होने के कारण कथा का श्रवण नित्य होता है और भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का सेवन भी निरन्तर होता रहता है इसी का निर्देश यहां नित्यं पद से किया गया है । इससे पूर्व तो कथा का श्रवण मात्र किया जाता था किन्तु संप्रति श्रोता मात्र श्रवण ही नहीं करता किन्तु भगवत्कथा का भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का देवता की तरह समादर भी करता है । यहां सेवा पद का यही तात्पर्य है । इस तरह भगवत्कथा करते रहने से भगवान् के प्रति (उत्तरोत्तर) परम प्रेम उत्पन्न होता है । अर्थात् भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति होती है। यहां सर्वत्र भगवान् शब्द से शुद्ध परब्रह्म लिये गये हैं । भगवान् उत्तम श्लोक हैं उत्तमैःश्लोक्यते, उत्तम पुरुष भगवान् की स्तुति करते हैं । इसलिये उनकी संगति करने से, स्तुति श्रवण का लाभ मिलता है । परिणामतः भक्तिभाव में अभिवृद्धि होती है । भगवान् उत्तम कीर्तिवाले हैं उतमा श्लोका यस्येति– इस प्रकार विग्रह करने से यह अर्थ निकलता है कि केवल भगवान् में ही भक्ति नहीं होती, किन्तु सत्पुरुषों और कथा सहित भगवान् में भक्ति होती है इस तरह भक्ति उत्पन्न होने पर भक्तजन सत्पुरुषों का एवं कथा का त्याग कभी नहीं करते । महान् विघ्न आने पर भी स्थिर रहने का नाम निष्ठा है । इस प्रकार की निष्ठा को प्राप्त नैष्ठिकी भक्ति जब उत्पन्न होती है तब भक्त को काल, कर्म स्वभाव आदि से उत्पन्न उपद्रवों की स्फूर्ति लेश मात्र भी नहीं होती – ऐसा तात्पर्य है ।।१६।।

आभासः— एतावत्पर्यन्तं पुरुषप्रयत्नः । अग्रिमं स्वयमेव भवतीत्याहत **देति** त्रिभिः—

आभासार्थ– यहां तक इतना प्रयत्न पुरुष को करना पड़ता है इससे आगे जो कुछ घटित होता है वह स्वयं ही हो जाता है और इसी का निरूपण तीन श्लोकों से करते हैं –

श्लोकः— तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।।१६।।

श्लोकार्थ— तब रजोगुण तथा तमोगुण के धर्म जो काम-लोभ आदि हैं उनसे अनाविद्ध चित्त, सत्व में स्थित होता हुआ प्रसन्न हो जाता हैं।।१६।।

सुबोधिनी— तदा तु चित्तस्य स्वरूपं नश्यति । त्रिगुणात्मकं हि तत् । तथाच स्वस्वकार्यं गुणाः कुर्वन्त्येव । तथाच तद्धृदयं कदाचिदपि भगवदासनं न भवति । यदा पुना रजस्तमसोः कारणभूतयोः सत्त्वता भवति । यथा स्पर्शमणिस्पर्शे ताम्रलोहयोः सुवर्णता भवति । तथाच त्रिभिर्निर्मितं पात्रं सर्वं सुवर्णं भवति । तथा भक्त्या स्पृष्टं चित्तं सर्वं सत्त्वं भवति । रजस्तमोभावाः कामक्रोधादयः कामलोभादयश्च मिश्रसत्त्वभावाश्चकारान्मिश्रा अन्येऽपि भावास्ते तटस्थतया निर्दिष्टाः । ये च प्रसिद्धा मोहादयस्तान्सर्वान्गितगृहानिव निर्दिशति । अत एव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः । ननु ते आगन्तुकत्वं प्राप्ता अपि पूर्वं वासनया कथं चित्तेन न सम्बध्यन्ते ? इत्यत आह—**चेतइति** । एते हि सूत्ररूपा मूलगुणसूचिव्यतिरेकेण न वेधनसमर्थाः । अत एतैरनाविद्धं चित्तं स्थितं भवति । तदा लयावस्थां प्राप्नुवदपि चित्तं निरन्तरोत्पन्नभक्त्यनुरोधेन तस्याः स्थानभूत—सत्वनिमित्तं भगवदावेशेन प्रसीदति । प्रसादो हि तेन कार्यकर्तृणां सर्वकार्यसिद्धिहेतुः प्रकाश—विशेषः ।। १६ ।।

सुबोधिनी अनुवाद—चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । भगवद्भक्ति से चित्त के इस स्व-रूप की निवृत्ति हो जाती है । चित्त का त्रिगुणात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है । जब तक चित्त मे सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं तब तक ये गुण अपना अपना कार्य करते रहते हैं और तब तक हृदय भगवान् के योग्य आसन नहीं बनता । चित्त में स्थित काम, लोभ के कारणभूत रजोगुण तथा तमोगुण जब पुनः सत्त्वरूपता में परिणत हो जाते हैं तब भगवान् हृदय को अपना आसन बनाते हैं, जिस तरह स्पर्शमणि के स्पर्श से ताम्र, लोह तथा स्वर्ण का पात्र, केवल स्वर्णमय बन जाता है उसी तरह भक्ति के स्पर्श मात्र से त्रिगुणात्मक चित्त संपूर्णतया सत्व रूप हो जाता है । चित्त जब भक्ति के स्पर्श से केवल सत्वमय बन जाता है तब रजोगुण के तथा तमोगुण के जो काम-क्रोधादि तथा काम लोभादि भाव हैं तथा जो सत्त्व मिश्रित भाव हैं, इसी तरह यहां चकार से ग्रहण किये गये अन्य प्रकार के भी जो मिश्र भाव हैं और जिनका तटस्थ रूप से निर्देशकिया गया है वे सभी निवृत्त हो जाते हैं । रजोगुण तथा तमोगुण के जो सर्वविदित मोहादिभाव हैं उनकी सत्ता नष्ट हो

जाती है । भक्ति के स्पर्श से रजोगुण तथा तमोगुण रूप गृह के नष्ट हो जाने पर इनके मोह आदि धर्म, घरबार विना के हो जाते हैं मोहादि के निवास स्थान रजोगुण तथा तमोगुण ही जब नहीं रहते तो फिर घर विना ये मोहादि कहा रहेंगे ? अर्थात् " न भवन्ति " नहीं रहेंगे – और इसी से श्लोक के पूर्वार्ध मे भवन्ति क्रिया का सम्बन्ध नहीं है " अतएव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः ।"

यहां यह शंका होती है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आगन्तुक धर्म होते हुए भी पूर्व की वासना के विद्यमान होने के कारण चित से पुनः सम्बद्ध क्यों नहीं हो सकते ? इसके समाधान में कहते हैं कि "चेत एतैरनाविद्धम्" ये काम क्रोध आदि सूत्र रूप हैं तथा मूलभूत रजोगुण तमोगुण सुई रूप हैं । मूल गुणभूत सूची के विना सूत्र काम क्रोध आदि चित्त वेधन करने में असमर्थ हैं अर्थात् चित्त से पुनः सम्बन्ध नहीं कर सकते । इन भावों से अनाविद्ध चित्त स्थित हो जाता है । तब लयावस्था को प्राप्त होते हुए भी उस चित्त में निरन्तर उत्पन्न होने वाली भक्ति के अनुरोध से भक्ति के स्थानभूत सत्त्व के लिये भगवान् का आवेश होता है और इस आवेश से चित्त प्रसन्न रहता है । ऐसे प्रसाद से सम्पन्न चित्त द्वारा कार्य करने वालों को उनकी कार्यसिद्धि में हेतु भूत प्रकाश विशेष की प्राप्ति होती है । प्रसाद वह प्रकाश विशेष है जो प्रसाद से युक्त जीवों की कार्य सिद्धि में हेतु बनता है ।।१६।। (१)

आभासः— तेन यज्जातं तदाह–

आभासार्थ– चित्तप्रसाद से जो फल मिलता है उसे कहते है ।

श्लोकः– एवं प्रसन्नमनसो भगद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ।। २० ।।

श्लोकार्थ— इस प्रकार प्रसन्न मन वाले मुक्त संग को भगवद् भक्ति के योग से भगवान् का तत्व अर्थात् करामलकवत् ज्ञान हो जाता है । ।। २० ।।

सुबोधिनी— एवमिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थिरसाधनपरम्परया प्रसन्नं मनो यस्य । मनसः सत्त्वात्मकत्वे "**सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि**" ति सर्ववस्तूनां तत्त्वज्ञानं भवति । न तु भगवत्स्वरूपज्ञानम् तस्य गुणातीतत्वेन गुणकार्यगम्यत्वाभावात् । अत आह– **भगवद्भक्तियोगत इति** । अन्तःकरण प्रसादो भक्त्यर्थमेव/तु भगवज्ज्ञानम् । " **भक्त्यै मामभिजानाती** " ति वाक्यात् ।

(१) श्री आनन्दीलालजी का अमुक भाग यहां नहीं लिया गया है ।

तत्त्वपदे नयावानि त्याद्यर्थः परिगृहीतः। विपदेन करतलामलकज्ञानवज्ज्ञानविशेषो विवक्षितः। अत्र संन्यासोऽप्यङ्गत्वे नाऽपेक्ष्यत इत्याह**मुक्त-सङ्गस्येति**। अन्तर्बहिःसङ्गनिवृत्तिः। "**विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशस्तु दूरत**" इति न्यायेन परित्यागव्यतिरेकेण न भगवदावेशः। अतो न साक्षात्कार इति संन्यासस्य कारणत्वम् ॥ २० ॥

सुबोधिनी अनुवाद— पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार स्थिर साधनों की परम्परा से प्रसन्न हो गया है मन जिसका - एवं प्रसन्नमनसः - मन जब सत्त्वात्मक बन जाता है तब सर्व वस्तुओं का तत्त्व ज्ञान हो जाता है - सत्त्वात्संजायतेज्ञानम् - किन्तु भगवद् स्वरूप का ज्ञान नहीं होता क्योंकि भगवान् गुणातीत हैं अतः सत्वगुण का कार्य जो ज्ञान है उससे भगवान् गम्य नहीं हैं। इसीलिये यहां भगवद्-भक्ति-योगतः यह कहा गया है। अंतः करण की प्रसन्नता भक्ति से होती है और भक्ति से ही भगवान के स्वरूप का ज्ञान होता है - भक्त्यामामभिजानाति - वाक्यका यही अभिप्राय है कि भगवान् का स्वरूप जैसा है और जितना है उसका ज्ञान भक्ति से ही संभव है। गीता के "यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" से जो बात कही गई है वही प्रस्तुत श्लोक के तत्त्व पद से स्पष्ट की गई है। विज्ञान में वि - पद उस ज्ञान-विशेष के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा "करामलकवत् ज्ञान" के समान ही ज्ञान की निष्पत्ति हो जाये। भगवत्स्वरूप के ज्ञान में संन्यास भी अंश रूप में अपेक्षित है इसी अभिप्राय से श्लोक में मुक्तसंग ऐसा कहा है। उसे ही यह ज्ञान होता है जो भीतर तथा बाहर "संग" से विषयों से मुक्त है - विषयों से आविष्ट चित्त वाले से भगवान विष्णु का आवेश बहुत दूर रहता है इस न्याय के अनुसार विषयों के परित्याग के विना संन्यास के विना भगवद् आवेश नहीं होता और भगवद् आवेश के विना भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। इसीलिये भगवत्साक्षात्कार में संन्यास कारण माना गया है।

आभासः— एवं विज्ञाने जाते यत्फलं तदाह—

आभासार्थः— इस प्रकार भगवान् का सर्वथा ज्ञान होने पर जो फल होता है वह कहते हैं

श्लोकः— भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि दृष्ट एवाऽऽत्मनीश्वरे ॥२१॥

श्लोकार्थं— ईश्वर ही मेरी आत्मा है, ऐसा अनुभव करने वाले के हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सभी संशयों का छेदन हो जाता है और उसके कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

सुबोधिनी— भिद्यत इति। चिदचिद्ग्रन्थिरविद्याकार्यम्। तज्ज्ञानेन निवर्तते। "**यस्मिन्**

ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती" ति सर्ववस्तूनां याथार्थ्यज्ञाने सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते । मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ कर्मबीजं प्ररोहति, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायामिति कर्माण्यपि क्षीयन्ते । एतत्सर्वं न येन केनाऽपि प्रकारेण जातज्ञानकार्यं, किन्तु ब्रह्मात्मैक्यानुभवकार्यमित्याह— **दृष्ट एवेति ।** आत्मत्त्वेन भगवदनुभवे । नाऽन्यथेत्त्येवकारार्थः । आत्मनो ह्यनीश्वरत्वेन जाताःपदार्था ईश्वरत्वेन निवर्तन्ते । अन्यस्येश्वरत्वे ज्ञातेऽपि, न ह्यन्यस्येश्वरत्वाज्ञानं स्वस्य संसारहेतुर्भवति ॥२१॥

सुबोधिनी अनुवाद— चिद् और अचिद् ग्रंथियां अविद्या से होती हैं। इसकी निवृत्ति भगवद् ज्ञान से हो जाती है । यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति - इसके अनुसार भगवान् के जान लेने पर यह सभी वस्तु यथार्थ रूप से ज्ञात हो जाती है । जब सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सर्व संदेह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म बीजों का पुनः प्ररोह नहीं होता । मिथ्या ज्ञान रूपी जल से सिंचित आत्म-भूमि । (अंतःकरण) में कर्मबीज अंकुरित होता है, उगता है । अर्थात् कर्मों का नाश नहीं होता । और जब ज्ञान रूपी धूप से जिसका जल निःशेष रूप से सुखा दिया गया है ऐसे ऊषर-भूमि-रूप अंतःकरण में कर्म बीजों का प्ररोहण नहीं होता, कर्म बीज नष्ट हो जाते हैं । यह सब कुछ सामान्य ज्ञान से ऐसे वैसे उपार्जित ज्ञान से, नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्म मेरी आत्मा है इस प्रकार के ऐक्यानुभव से सिद्ध होता है और यही बात " दृष्टएवात्मनीश्वरे " इस पंक्ति से कही गई है । भगनान् हो मेरी आत्मा है । ऐसा अनुभव होने पर ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है अन्यथा नहीं ही - और इसी अभिप्राय से श्लोक में निश्चयात्मक " एव " का प्रयोग किया गया है । यहां यह कहा जा सकता है-जिस तरह विद्या से, अविद्या का उपमर्द होता है, उसी तरह अविद्या से विद्या का भी उपमर्द हो सकता है । ऐसी आशंका में यह कथन है कि ब्रह्म ही मेरी आत्मा है - ऐसा न समझने पर ऐश्वर्य आदि भगवद् धर्म तिरोहित हो जाते हैं, तब अविद्या से बंध और विपरीत ज्ञान होते हैं । " ब्रह्म मेरी आत्मा है " ऐसा अनुभव होने पर ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकट होते हैं तथा बंध और विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं । ईश्वर मेरी आत्मा है - ऐसा न मानने पर उत्पन्न हुई चिद्-अचिद् ग्रंथि रहती है तथा भगवान् को आत्मा मानने पर यह ग्रंथि निवृत्त हो जाती है । देहेन्द्रिय आदि को आत्मा मान लेने पर यह भी आत्म-ग्रंथि नहीं मिटती । यदि देहेन्द्रिय आदि में ईश्वरत्व का ज्ञान नहीं होता तो भी उससे आत्मा को संसार की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसे यह ज्ञान हो चुका है कि " आत्मा ही भगवान् " है ।

आभास— एवं सर्वप्रकरणार्थं निरूप्य कुत्र पुरुषप्रयत्नः पर्यवसित इति सन्देहे प्रयत्नविषयमाह—

आभासर्थ— इस तरह सर्व प्रकरण के अर्थ का निरूपण करके - " पुरुष-प्रयत्न पर्य-

वसान कहां होता है" ? यह संदेह होने पर प्रयत्न विषय में कहते हैं–

**श्लोक– अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।। २२ ।।**

श्लोकार्थ– इसलिये शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग परम-हर्ष के साथ अन्तः करण को प्रसन्न करने वाली भगवान् वासुदेव की भक्ति करते हैं ।। २२ ।।

सुबोधिनी—अतो वै कवय इति । शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूते भगवति परमप्रेम कर्तव्यमिति प्रयत्ननिष्कर्षः । तेन भगवत्प्रसादः अन्तःकरणे भगवत्साक्षात्कारो वेति फलम् । वै निश्चयेन । स्वस्यैवं निश्चयः । कवयः शब्दतात्पर्याभिज्ञाः । शब्दबलविवेकादेवमर्थप्रत्यय इति भावः । साधनस्य सुखात्मकत्वादपि सदा भक्ति कुर्वन्ति । क्षणे क्षणे (?) प्रतिक्षणं भगवदाविर्भावेन परमा मुच्चोत्पद्यते । विषयस्तु सत्त्वगुणाऽऽविर्भूतः । भक्तिश्च ज्ञानजनिका प्रयत्नश्च भक्तौ साधनत्वेनेति शब्दवलविवेकश्चेति प्रथमाधिकारः ।।२२।।

सुबोधिनी अनुवाद—शुद्ध सत्वात्मक अंतः करण में आविर्भूत भगवान् में परम प्रेम करना चाहिये और इसी में पुरुष प्रयत्न का पर्यवसान है । इससे भगवत्प्रसाद अथवा अंतःकरण में भगवत्साक्षात्कार रूप फल मिलता है । 'वै' का अर्थ है निश्चयपूर्वक-सूत को इस बात का निश्चय है ।

'कवयः'– अर्थात् शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग जिन्हें शब्द-बल-विचार से ही उपर्युक्त अर्थ का ज्ञान है । शब्द तात्पर्य के ज्ञाता को ही शब्द-बल-विवेक से इस प्रकार के अर्थ का निश्चय होता है । इतना ही नहीं भक्ति के साधन सुखरूप हैं, ज्ञान और कर्म के साधनों की तरह क्लेशप्रद नहीं हैं– इसलिये भी कविलोग सदा भक्ति करते हैं अर्थात् क्षण-क्षण में भक्ति करते हैं और इस तरह प्रतिक्षण भगवान् के आविर्भाव से परम हर्ष उत्पन्न होता है । सत्वगुण से आविर्भूत सत्वमूर्ति भगवान् यहां भक्ति के विषय हैं । भक्ति ज्ञान की जननी है, शब्द बल का विचार तथा पुरुष-प्रयत्न भक्ति में साधन रूप है । इस सब में सम्पन्न व्यक्ति का भक्ति में प्रथमाधिकार माना जाता है ।।२२।।

आभास : तत्र विषये यन्देहः—कोऽयं नियमः सत्त्वमूर्तावेव भक्तिः कर्तव्येति । रजस्तमो-मूर्तावपि भक्तिकरणं ब्रह्मत्वाज्ज्ञानसाधकम् । तथाच विष्णुभक्तिवच्छिवादिभक्तिरपि ज्ञानसाधिका । ब्रह्मणस्तुल्यत्वादित्याशङ्क्य तत्र निर्धारमाह पञ्चभिः **सत्त्वमित्यादिभिः**—

आभासार्थ– पूर्वश्लोक 'अतो वै कवयोनित्यम' में, सत्वमूर्ति भगवान् को भक्ति का विषय कहा है। यहां संदेह होता है कि सत्वगुण मूर्ति भगवान् की ही भक्ति करनी चाहिये– यह क्या कोई नियम है ? रजोगुण मूर्ति ब्रह्मा में तथा तमोगुण मूर्ति शिव में भी भक्ति करने से - इनकी ब्रह्मरूपता के कारण ज्ञान सिद्ध होता है। तदनुसार विष्ण भक्ति की तरह शिव भक्ति भी ज्ञान की साधिका है। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीनों में ही ब्रह्म की तुल्य रूपता है। ऐसी आशंका में यहां " सत्त्व रजस्तम " इत्यादि पांच श्लोकों से निर्णय देते हैं।

श्लोक– सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥

श्लोकार्थ– सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं। इनसे युक्त एक परब्रह्म - पर:पुरुष ही यहां जगत की स्थिति, उत्पत्ति और संहार के लिये हरि ब्रह्मा और शिव नाम संज्ञा-धारण करता है किन्तु उनमें मनुष्यों को शुभ फल सत्त्वगुण मूर्ति विष्णु हरि से ही प्राप्त होता है ॥२३॥

सुबोधिनी– ब्रह्मणोऽपि, विशेषत्वाभावेऽप्युपाधिवैशिष्टचेन फलवैशिष्ट्यम्। न तु चैतन्यस्वरूपं भिद्यते केषाञ्चिद्वैष्णवानां मत इव। तेऽपि गुणा न ब्रह्मणः। तथा सत्युच्चावचगुण-जनकत्वेन स्वरूपमपि विलक्षणं स्यात्। कार्यवशात्तथाऽपेक्षायां न दोषः। एकस्यैव स्नानभोजनान्तःपुरकार्यदर्शनात्। ननु पुरुषस्त्रिगुणः। तस्माद्गुणप्रेरणया तत्तत्कार्यकरणं सम्भवति। प्रकृतेऽपि तथा चेद्गुणान्तरपरम्परया अनवस्था स्यात्। तथाच क्वचित्सहजो गुणसम्बन्धो वक्तव्यः। तथा सति स्वरूपमपि भिद्येतेति चेत् ? अत्र हि बहवो वादिनः पृथक्पृथङ्निरूपयन्ति। साङ्ख्यास्तु नित्यसम्बन्धं प्रकृतेराहुः। अन्ये तु नास्त्येव सम्बन्धः। भ्रमादेव प्रतीयत इत्याहुः। भागवतसिद्धान्ते तु भगवति सहजं कर्तृत्वम्। तत्र किञ्चिद्रूपंप्रकृतिपुरुषविभेदेन द्विरूपत्वमापद्यते। तथा भौतिक-निर्माणे भूतापेक्षा, न भूतनिर्माणे, तथा प्राकृतनिर्माणे करणत्वेन प्रकृत्यपेक्षा। नैतावता स्वरूपे भेदा दोषा वा सम्भवन्तीत्येक एव पुरुषः। अस्य जगतउत्पत्तिस्थितप्रलयार्थं गुणत्रयमाददानः पर एव पुरुषो ब्रह्मभूतः—**हरिविरञ्चिहरेति**—"**सर्वोद्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति**" इति न्यायेन संज्ञात्रयं धत्ते। सुपां सुलुगिति लुग्वा। इतिशब्दो वा द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः सर्वत्राऽपि सम्बध्यते। संज्ञायाः स्वरूपमात्रत्वान्न प्रत्ययोत्पत्तिः। यथा देवदत्तेतिसंज्ञा। इतिशब्दः प्रकारार्थश्च। तेन अन्या अपि संज्ञा एकस्य बह्वयः सन्तीत्यर्थः। तथाचैते गुणा कार्यार्थं करणत्वेन गृहीता अपि निरन्तरग्रहणा-दुपाधिरूपा जाताः। तेन यद्भजनं तदुपाधावेव पर्यवसितम्भवतीति सत्त्वोपाधिरेव सेव्य इत्यभिप्राये-णाऽऽह —**श्रेयांसीति**। तत्रैवं निर्णयः। सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति, स्वस्याऽपि तादृशं रूपं

सम्पादयति । साधनानि च तानि यद्यप्यपहतपाप्मानं भगवन्तमन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति, तथापि जीवमन्यथा कुर्वन्त्येव । ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा नाऽन्यथाभावस्तादृशरूपवानेवेश्वरः सेव्यः । नाशशङ्काऽभावात् । यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिर्नोपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित्सेवायामपि न काचिच्चिन्ता । यथा ब्रह्मविदः । "**तं यथा यथोपासत**" इत्यत्र तथा निर्णयात् । श्रेयांसि शुभफलानि । तत्र भजनीयरूपेषु । खल्विति सम्मतिः । सोपपत्तिका सा निरूपिता । सत्त्वतनोरिति तनुशब्दाद्दृढोपाधित्वमुक्तम् । नृणां साधारणजीवानाम् । नियतानां तु तेन सहोपाधिरिति सर्वं सुस्थम् ।।२३।।

सुबोधिनी अनुवाद–यहां उक्त संदेह उचित नहीं है । इसको स्पष्ट करने के लिये यहां श्री-सुबोधिनी में-"ब्रह्मणोऽपि" में "अपि" शब्द कहा है । ब्रह्म में गुण विशेष का अभाव होने पर भी गुणरूप उपाधि की विशेषता के कारण फल में विशेषता वैशिष्ट्य रहती है । अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और शिव यद्यपि समान रूप से परब्रह्म हैं तथापि सत्त्व, रज तथा तम की उपाधि से युक्त होने के कारण फल में विशेषता है । ये देवता गुणों के अंगभूत नहीं हैं तथापि गुणों से युक्त होने के कारण उन उन गुणों की उपाधि वाले देवताओं की सेवा पूजा से फल में तारतम्य होता है। अमुक माध्व वैष्णवों के मत की तरह यहां चैतन्य-स्वरूप भिन्न नहीं है, (१) अर्थात् माध्व वैष्णव मत में ब्रह्मा तथा शिव में जीवत्व मानते हैं किन्तु यहां जीवत्व नहीं माना गया ।

सत्त्व, रज तम ये गुण परब्रह्म के नहीं हैं-यदि ये गुण ब्रह्म के माने जायें तो ऊंचे नीचे गुणों को उत्पन्न करने के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी बिलक्षण हो जायेगा । यदि कार्यवश वह इन गुणों को धारण करता है तो कोई दोष नहीं-आता जैसे एक ही व्यक्ति स्नान, भोजन, अंतःपुर का कार्य करता है तो भी उसमें भिन्नता नहीं आती, उसी तरह इन गुणों को किसी कार्य के लिये धारण करने से ब्रह्म में कोई वैलक्षण्य नहीं आता । यहां चैतन्यस्वरूप को भिन्न पृथक् मानने वाले शंका करते हैं कि शरीर में रहने वाला पुरुष त्रिगुण से युक्त है, इसलिये इन गुणों की प्रेरणा के अनुसार उन उन कार्यों को करना संभव है । इसके उत्तर में यह कथन है कि यदि यह मान लिया जावे, तो इन गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुण भी मानने पडेंगे और फिर इन अन्य गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुणों को मानने पडेंगे ऐसी अवस्था में अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा । इसलिये यह तो कहना ही होगा कि कहीं सहजगुणों का सम्बन्ध है। यदि सहज गुणों का सम्बन्ध मान लें तो फिर स्वरूप भी भिन्न हो जायेगा अर्थात् एक तरफ

(१) अमुक वैष्णवाचार्यों के मतानुसार चैतन्य स्वरूप भिन्न है यहां पर भिन्नता नहीं मानी जाती ।

सहज गुणों का सम्बन्ध तथा दूसरी तरफ निर्गुणस्वरूप- ये दोनों पृथक् पृथक् हो जायेगे-इस शंका के उत्तर में, यहां यह जान लेना चाहिये कि इस विषय में बहुत से वादियों ने अपने अपने मत का भिन्न भिन्न रूप से प्रतिपादन किया है। सांख्य मतानुयायी प्रकृति का पुरुष से नित्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः पुरुष निर्गुण हो ही नहीं सकता। पुरुष में कर्तव्य आदि धर्म, प्रकृति के सम्बन्ध से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पुरुष में कर्त्तव्य नहीं है इसी पुरुष को सांख्य-मतानुयायी ईश्वर मानते हैं। पांतजल और मायावादी कहते हैं कि प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध है ही नहीं। प्रकृति का सम्बन्ध काम से प्रतीत होता है। इस भ्रांत प्रतीति से ही ब्रह्म में कर्तव्य आदि का आरोप किया जाता है।

भागवत सिद्धांत है कि प्रकृति सम्बन्ध विना ही भगवान् में सहज कर्तव्य है। इसी शुद्ध ब्रह्म से कुछ न्यून, इसी का रूप अक्षर ब्रह्म है और यह अक्षर-ब्रह्म ही प्रकृति पुरुष विभेद से द्विरूपता को प्राप्त होता है। जैसे मौलिक शरीर के निर्माण में पंचमहाभूत अपेक्षित होते हैं, किन्तु पंचमहाभूत के निर्माण में पंचमहाभूत की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्राकृत जगत् के निर्माण में कारण रूप से प्रकृति की अपेक्षा है- किन्तु प्रकृति के निर्माण में स्वयं प्रकृति कभी कारण रूप नहीं होती और इसी से स्वरूप में भेद की तथा दोनों की सम्भावना ही नहीं है। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के लिये तीनों गुणों को ग्रहण करने वाला परपुरुष एक ब्रह्म ही है। जैसे एक ही द्वन्द्व समास, समाहार द्वन्द्व और इतरेतर द्वन्द्व कहा जाता है उसी तरह वह एक परः पुरुष ब्रह्म ही विष्णु-ब्रह्मा तथा शिव तीनों नाम धारण करता है। इसी का निर्देश यहां 'हरिविरं-चिहरेति संज्ञा' से किया गया है। 'हरि-विरंचि-हर' यहां समाहारद्वन्द्व है और 'सुपांसुलुगू इतिलुक्' सूत्र के अनुसार 'सु' का लोप हो गया है अथवा द्वन्द्व समास के अन्त में आने वाले इति शब्द का सर्वत्र सम्बन्ध होता है (हरीति, विरंचीति, हरेति- इस तरह इति शब्द यहां प्रत्येक संज्ञा के साथ सम्बन्धित है।) यहां प्रत्येक संज्ञा (नाम) स्वरूप मात्र का परिचय कराती है इसलिये व्याकरण के नियमानुसार अर्थवत्व न होने से 'हरिविरंचि हरेति' में प्रत्यय नहीं लगाया गया जैसे देवदत्तेति- संज्ञा कही जाती है। यहां इति शब्द प्रकारार्थ भी है इसलिये यहां एक ही ब्रह्म की- इन तीनों संज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी संज्ञायें हैं। यहां इति शब्द से यह भी सूचित किया गया है।

ब्रह्म ने यद्यपि सत्व, रज, तम इन गुणों को घट निर्माण में दण्ड की तरह साधन रूप से करण से ग्रहण किये हैं तथापि निरन्तर ग्रहण करने से ये ही गुण उसके उपाधिरूप हो गये हैं। अर्थात् यही ब्रह्म, सत्व गुणोपाधिक विष्णु, रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा तथा तमोगुणोपाधिक शिव

कहा जाने लगा। तदनुसार जिस उपाधि विशिष्ट देवता का भजन करने में ग्रायेगा उस देवता की उपाधि विशेष में ही भजन का पर्यवसान होगा। इसीलिये सत्वगुणोपाधि विष्णु ही सेव्य हैं, इस तरह यहां कहा गया है– "श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः"।

वहां निर्णय इस प्रकार है कि सेवक के सेव्य जिस रूप को देखता है ग्रपने लिये भी उसी रूप का सम्पादन करता है, ग्रर्थात् विष्णु की भक्ति करने वाले का रूप विष्णु के गुणानुरूप होगा, इसी तरह ब्रह्मा ग्रथवा शिव की भक्ति करने वाले का रूप ब्रह्मा ग्रथवा शिव के गुणानुरूप होगा। भगवान् ग्रपहत–पाप्मा है इसलिये जीव द्वारा ग्राचरित ये भजनादि साधन यद्यपि भगवान् को ग्रन्यथा करने में– समर्थ नहीं हैं फिर भी जीव को तो वे ग्रन्यथा कर ही देते हैं ग्रर्थात् सेवक के रूप को बदल देते हैं। ग्रतः ग्रपने जिस रूप से ग्रथवा उसकी प्रसन्नता के लिये ग्राचरित जिस साधन से ग्रन्यथा भाव न हो, ग्रपना रूप ग्रन्यथा न हो, ऐसे रूप वाले ईश्वर की ग्रथवा सत्वगुणोपाधि युक्त विष्णु की सेवा करना ही उचित है। इस प्रकार की स्थिति में ग्रपने स्वरूप-नाश की शंका नहीं रहती। क्योंकि सत्वगुणोपाधिक विष्णु, स्थिति की रक्षा करेंगे, उसका नाश नहीं होने देंगे।

जहां सेवक की बुद्धि यदि सेव्य देवता की गुण रूप उपाधि में पर्यवसित न होती हो तो वहां कभी की गई सेवा में भी कोई दोष ग्रथवा चिंता नहीं है। ग्राशय यह है कि मैं सत्वगुणोपाधिक विष्णु की ग्रथवा रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा की ग्रथवा तमोगुणोपाधिक शिव की उपासना करता हूं– ऐसी भावना से जहां सेवा की जाती हो तो वहां स्वरूप हानि की संभावना हो सकती है, किन्तु सेवक की बुद्धि जहां किसी उपाधि विशिष्ट सेव्य को लेकर सेवा करने की नहीं होती तो वह कहीं भी किसी की भी सेवा कर सकता है। वहां उसके स्वरूप में हानि की सम्भावना नहीं होती। जैसे ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र ब्रह्मज्ञान पूर्वक सेवा करता है किन्तु उसका स्वरूप ग्रन्यथा नहीं होता– जो सेवक देवता की जिस जिस रूप में उपासना करता है उसकी बुद्धि भी उस उस रूप की हो जाती है। 'तं यथायथोपासते'– इस श्रुति का भी यही निर्णय है। कल्याणकारी शुभ फल 'सत्वतनु' विष्णु की– उपासना से सिद्ध होता है। ग्रन्य से नहीं। श्लोकस्थ खलु शब्द सम्मति के ग्रर्थ में प्रयुक्त हुग्रा है। यह सम्मति युक्तिरहित निरूपित की गई है।

श्लोकस्थ सत्वतनोः में तनु शब्द द्वारा सत्वोपाधि की दृढ़ता स्थिरता बताई गई है। नृणाम यह शुभ फल साधारण जीवों को मिलता है ग्रौर जो निरन्तर सेवा करने वाले विशिष्ट

जीव हैं वे सत्वोपाधिक देवता में मिल जाते हैं और इस तरह सत्वगुणोपाधि से समन्वित हो जाते हैं और जब उसके सेव्य स्वरूप की उपाधि निवृत्त हो जाती है तब उसमें सायुज्य-भाव से स्थिर उसके भक्त की उपाधि भी निवृत्त हो जाती है। अतः यह सब कुछ सुसंगत है।२३।

आभास—अयमर्थो गूढ इति दृष्टान्तमाह—

आभासार्थ–ब्रह्मा, विष्णु, महेश– ये तीनों ही स्वरूप से एक हैं, तथापि अपनी अपनी गुणोपाधि से युक्त होने के कारण उनकी सेवा के फल में तारतम्य है यह बात गूढ़ है। अतः दृष्टांत से कहते हैं–

श्लोक– पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्म दर्शनम् ।।२४।।

श्लोकार्थ– जो प्रवृत्ति तथा प्रकाश से रहित है, ऐसे पार्थिव काष्ठ से धूंआ उत्तम है– क्योंकि उसमें प्रवृत्ति है– और धूम से त्रयीमय वैदिक कर्म प्रधान अग्नि श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति और प्रकाश दोनों ही है। उसी तरह तमोगुण से रजोगुण श्रेष्ठ है और उससे भी अग्नि के समान प्रकाशमय सत्वगुण श्रेष्ठ है जिससे ब्रह्म का अनुभव होता है ।।२४।।

सुबोधिनी—पार्थिवादिति। प्रकाशापेक्षिणो (?) हि तेजो मृग्यते । तत्राऽप्यग्निसाध्येष्वग्निः। स च लोके दारुषु प्रतिष्ठितः। तानि पुनः पृथिवीप्रकृतिकानि। तेषां पूर्वरूपं पृथिवीसम्बन्धः। वृक्षरूपतेति यावत्। तत्र च्छेदनेन शोषेण वा काष्ठता। जलांशेन धूमजनकत्वम्। तेजोंऽशेनाऽग्निजनकत्वमिति । तत्राऽप्यलौकिकाऽऽहवनीयादिदेवतासम्बन्धे वेदप्रतिपाद्यत्वम् तत्र लोके कालान्तराग्नीच्छायां सार्द्रभूसम्बद्धकाष्ठसङ्ग्रहः । तत्पार्थिवशब्देनोक्तम्। तस्मादधूमः शुष्कः। ततोऽपि ज्वलन्नग्निः। ततोऽपि लोकान्तरे प्रकाशार्थं त्रयीमयः। ततः पूर्वं रूपं मृत्पिण्डसमानकाष्ठता। अन्तिममाहवनीय इति। अथवा। जले ह्याधारमात्रत्वं दारु सम्पादयति। धूमः शोषणम्। पाकमग्निः। एवं घटस्य नानोपकारसम्पादकत्वं तेजस एवोपाधिवैलक्षण्यात्। तथा ब्रह्मणोऽपि तमसा लौकिकभोगसम्पादकत्वम्। रजसा कर्म, सत्त्वेन ज्ञानमिति । यद्ब्रह्मेति पूर्वोक्तरूपतोक्ता यद्ब्रह्म तमः। तस्माद्यद्ब्रह्म रजः। तदुत्तमम्। ततोऽपि सत्त्वम्। तत्तु ज्ञानरूपमेवेति। दर्शनमनुभवः। अदूरविप्रकर्षेणैतदुक्तमित्यर्थः। अनेन सोपहितं कार्यमपि विलक्षणं जनयतीत्युक्तम्। पूर्वश्लोके जीवपुरस्सरेण त्रैविध्यं निरूपितम्। अनेन तु ब्रह्मपुरस्सरेणेति विशेषः ।।२४।।

सुबोधिनी अनुवाद— जिसे प्रकाश की अपेक्षा होती है वह तेज को ढूंढता है। वहां भी

अग्निसाध्य कार्यों के लिये अग्नि की अपेक्षा है और लोक में यह अग्नि काष्ठ में मिलती है और ये लकड़ियां पृथिवी-प्रकृति की है– उनका पूर्वरूप पृथिवी से सम्बन्धित अतएव वृक्ष रूपता है। वृक्ष का छेदन और शोषण करने से काष्ट बनता है। काष्ठ में जलांश धूम को उत्पन्न करता है। यदि तेज का अंश होगा तो यह अग्नि उत्पन्न करेगा। अग्नि में भी अलौकिक अग्नि उन्पन्न होती है जिसका उपयोग अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म में होता है, इस अग्नि का सम्बन्ध देवताओं से होने के कारण यह वेद-प्रतिपाद्य है। लोक में भी कालान्तर में जब अग्नि प्राप्त करने की इच्छा होती है तब गीले वृक्षों से काष्ठ संग्रह किया जाता है। वही काष्ठ यहां पार्थिव शब्द से कहा गया है। पार्थिवात्दारुणोधूमः– में अधूमः ऐसी सन्धि भी होती है अतः प्रथम जिसमें धूम न निकले ऐसे शुष्क काष्ठ का संग्रह होता है फिर उससे जलती हुई अग्नि का संग्रह होता है फिर इससे लोकान्तर में प्रकाश करने वाली वैदिक-अग्नि त्रयीमयः बनती है। अग्नि का प्रथम रूप मृत्पिण्ड काष्ठ है और अन्तिम स्वरूप आहवनीय वैदिक अग्नि है।

अथवा कच्चे घट में जलांश होता है उस घट को लकड़ी, अग्नि का आधार बनाती है अर्थात् घट का सम्बन्ध प्रथम लकड़ी से होता हैं फिर धूम उसे सुखाता है और अग्नि उसे पकाती है। इस प्रकार वह अग्नि ही काष्ठ, धूम और अग्नि अपनी इस उपाधियों से उसका घट का अनेक प्रकार से उपकार करती है। उसी प्रकार ब्रह्म भी तमोगुण से लौकिक भोग का, रजोगुण से कर्म का और सत्वगुण से ज्ञान का सम्पादन करता है। यहां 'यद्' ब्रह्म से वृक्षरूपता बताई गई है। तमोरूप ब्रह्म से रजोरूप ब्रह्म उत्तम है और उससे भी उत्तम सत्वरूप ब्रह्म है जो ज्ञान रूप है जिससे ब्रह्म का दर्शन अर्थात् अनुभव होता है। तम से रज, इसलिपे उत्तम है कि वह सत्व अर्थात् ज्ञान रूप कार्य के अधिक निकट है जैसे काष्ठ की अपेक्षा धूम अग्नि के अधिक पास है इसलिए उत्तम है। यह उत्तरोत्तर उत्तमा दूरी और सामीप्य के न्याय से समझी गयी है। इसलिये तमोगुणो–पाधि, रजोगुणोपाधि और सत्वगुणोपाधि से युक्त होने के कारण इनके कार्य में भी विलक्षणता है अर्थात् ये पृथक् पृथक् कार्य करते हैं। पूर्व श्लोक में ब्रह्मादि देवाताओं को त्रैविध्य जीवनरूप से बताया गया था किन्तु प्रस्तुत श्लोक में यही त्रैविध्य ब्रह्म के रूप में निरूपित किया गया है, यहां यह इतनी विशेषता है ॥२४॥

आभास— अत्र सदाचारं प्रमाणयति।

आभासार्थ— सत्ययुग से चली आती हुई सत्वगुणोपाधिक की सेवा में सदाचार का प्रमाण देते हैं।

श्लोक– भेजिरे मुनयोऽथाऽग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ।।२५।।

श्लोकार्थ— पहले सत्ययुग में ज्ञानी मुनियों ने विशुद्ध सत्वरूप अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत) भगवान् की सेवा की, जिससे उन्होंने तो उत्तम फल प्राप्त किया ही, किन्तु उनके मार्ग पर चलने वाले आज भी इसी जन्म में कल्याण को, जीवानन्द को प्राप्त करते हैं ।।२५।।

सुबोधिनी– भेजिर इति । आत्मार्थं भजनेन भगवन्तमेव भेजिरे इत्यात्मनेपदाद्बहुवचनादाचारदाढ्य म् । कर्तृ दोषाभावमाह– **मुनय इति** । मननपर्यन्तं पदार्थानुष्ठानेन सत्त्वमुक्तम् । अथेत्यज्ञानदशायां भजनं निवारितम् । मुनयो भूत्वा पश्चाद्भजन्त इत्यर्थः । अग्रे सत्ययुगे । "**पुरा कृतयुग**" इत्यादिवाक्यात् । ब्रह्मरूपतामलौकिकरूपतां चाऽऽह पदद्वयेन– **भगवन्तमधोक्षजमिति** । उपाधेर्मुख्यताप्रतिपादनार्थं **सत्त्वमिति** सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनम् । **विशुद्ध**मिति ब्रह्मादिषु विद्यमानसत्त्वनिवृत्तिः । तेषां कि फलं जातमिति जिज्ञासायां, किं तेषां फलं वक्तव्यं, तत्सेवका अपि मुच्यन्त इत्याह– **कल्पन्त इति** ।ताननु ये तत्सेवका ये । तन्मार्गवर्तिनो वा । तेऽपि क्षेमाय स्वरूपानन्दाय कल्पन्त इत्यर्थः । तत्राऽपि इहैव, न भवान्तरे । तस्माच्छीघ्रं शुभफलसाधकत्वात्सत्त्वरूपमेव सेव्यमित्युक्तम् ।।२५।।

सुबोधिनी अनुवाद— पहले के मुनियों ने आत्मा के लिये भजन किया अर्थात् उन्होंने अधोक्षज भगवान की ही सेवा की है । यहां भेजिरे आत्मने पद है और बहुवचन में है इससे ज्ञात होता है कि यह आचरण किसी एक तक ही सीमित नहीं था अपितु बहुतेरों का यही आचरण रहा । तदुपरान्त इस भजन का फल आत्मगामी है अर्थात् जो भगवान सर्व के आत्मरूप हैं उनका भजन किया । यह सेवा (भजन) उन्होने की जिनमें दोष का सर्वथा अभाव था, इसी का निर्देश करने के लिये यहां मुनयः शब्द का प्रयोग किया गया है । पदार्थं का मनन पर्यन्त अनुष्ठान करने से जिसमें सत्व प्रतिष्ठित हो गया है उनको मुनि कहते हैं, अर्थात् सत्वयुक्त, मननशील मुनियों ने ऐसा भजन किया है

श्लोकस्थ अथ का यह अभिप्राय है कि अज्ञान अवस्था में उन्होंने भजन नहीं किया है किन्तु ज्ञानी होकर उन्होंने अधोक्षज भगवान् को भजा है । अग्रे का अर्थ है सत्य-युग में– "पुराकृतयुगे" इस वाक्य के अनुसार अग्रे का यहां यही अर्थ ग्रहण किया गया है ।

ब्रह्मरूपता एवं अलौकिकता बताने के लिये यहां भगवान तथा अधोक्षज ऐसे दो पदों का प्रयोग किया गया है अर्थात् प्रभु षड् ऐश्वर्य से युक्त हैं–तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रभु से नीचे ही रहता

है अर्थात् प्रभु इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत हैं–भगवन्तम्-मधोक्षजम् । विष्णु में सत्वगुणोपाधि की मुख्यता का निर्देश करने के लिये उनको यहां सत्व-रूप कहा है । 'सत्व' अर्थात् यहां सत्व शब्द भगवान् का समानाधिकरण से विशेषण है । यह सत्व गुण ब्रह्मादि में भी विद्यमान है तो क्या वे मुनिगण उनका भजन करते थे ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यहां विशुद्ध पद का प्रयोग हुआ है अर्थात् (विशुद्ध) शुद्ध सत्व वाले भगवान् का ही भजन करते थे । मिश्र सत्व वाले ब्रह्मादिक का नहीं । ऐसे विशुद्ध सत्व वाले की सेवा से किस फल की प्राप्ति होती है । ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं- विशुद्ध सत्वरूप भगवान् की सेवाफल का तो कहना ही क्या ? इनके सेवकों को तो उत्कृष्ट फल मिलता ही है । किन्तु ऐसे सेवकों की सेवा करने वाले भी मुक्त हो जाते हैं-"कल्पन्तेये नु तानिह" अर्थात् सत्व रूप भगवान् की सेवा करने वालों के सेवक अथवा उनके मार्ग पर चलने वाले सभी व्यक्ति कल्याण की, जीव स्वरूपानन्द की प्राप्ति करते हैं और यह फल भी उन्हें इसी जन्म मे मिल जाता है, जन्मान्तर में नहीं । इसलिये शीघ्र ही शुभ फल की साधक होने के कारण सत्व रूप की ही सेवा करनी चाहिये, इस प्रकार से कहा गया है ।।२५।।

आभासः— इदानीं रजस्तमसोरपि सेवकभजनफलानां भेदेन स्वरूपं वक्तुं सत्त्वस्य स्वरूपमनुवदति— **मुमुक्षव इति ।** अथवा । कालस्य प्राधान्यात्सत्ययुगे सत्त्वस्य भजनमस्तु नाम । कथं त्रेतादिषु तद्भजनमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ— सम्प्रति रजोरूप तथा तमोरूप ब्रह्म के स्वरूप को उसके सेवक, भजन, तथा फल के भेद पूर्वक विवेचन करते हुए– "मुमुक्षव" श्लोक से सत्वरूप ब्रह्म का स्वरूप पुनः बताते हैं । अथवा काल की प्रधानता से सत्ययुग में सत्वरूप ब्रह्म की सेवा भले ही की जाती हो, किन्तु त्रेता-द्वापर तथा कलियुग में इसका भजन (सेवा) कैसे हो सकता है । इस आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—

श्लोक– मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ।।२६।।

श्लोकार्थ– मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष घोररूप रुद्रादि देवताओं को छोड़ कर नारायण के जो ज्ञान क्रिया शक्ति रूप जो शांत अवतार हैं उनका असूया रहित होकर भजन करते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी— मुमुक्षव इति । सत्त्वस्य फलं मोक्षः । स ज्ञानसाध्यः । ज्ञानं च शान्तान्तःकरणसाध्यम् । भजनीयं च रूपं ध्येयम् । तेन घोररूपध्यानेन चित्तमपि तथा भवति । अतोऽभेदेऽपि

सत्त्वमूर्तेरपि घोराणि रूपाणि परित्यज्य । घोररूपांश्च । पूर्वं मोक्षसाधनत्वेन कुलाचारेण श्रद्धया वा प्राप्तं राजसादि भजनं गुणानां स्वरूपज्ञानानन्तरं परित्यज्य । अथ भिन्नक्रमेण । ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वात्पुरुषरूपनारायणस्य । कला धर्मावतारा ज्ञानक्रियाशक्तिरूपाः । मत्स्याद्यवतारान् रामादिरूपं वा रूपान्तरेषु दुष्टबुद्धिरहिता भजन्त इत्यर्थः । नेदं भक्तिमार्गभजनम् । किन्तु जीवानां स्वपुरुषार्थसिद्धये धर्ममार्गेण । तथा सति सर्वथा निःसन्दिग्धमेव भजन्ते न नृसिंहादिरूपम् । भक्तिमार्गे तु विषयस्य प्राधान्यात्प्रयोजनस्य दुर्बलत्वात्सर्वाण्येव रूपाणि भजनीयानि ॥२६॥

सुबोधिनी अनुवादः– सत्व गुण का फल मोक्ष है। मोक्ष ज्ञान से होता है। ज्ञान शांत अंतःकरण से सिद्ध होता है। परन्तु जिसका भजन किया जाता है उसी का ध्यान करना चाहिये। तदनुसार घोर रूप का ध्यान करने में चित्त भी घोर रूप वाला अशांत बन जाता है इसलिये– स्वरूप में अभेद होने पर भी सत्वमूर्ति के घोर रूप को तथा घोर रूप देवताओं को छोड़ कर प्रथम से ही जो व्यक्ति मोक्ष को साधन बनाकर कुलाचार से अथवा श्रद्धा से परम्परागत राजस तामस रूपों का भजन करते हैं वे भी राजसिक तथा तामसिक स्वरूप का ज्ञान होने पर उनके भजन को छोड़ कर ब्रह्मांड के भीतर रहने वाले पुरुषरूप नारायण के धर्मावतार रूप जो ज्ञान शक्ति रूप मत्स्यादि अवतार हैं उनका तथा क्रियाशक्ति रूप रामादि अवतारों का दूसरे अवतारों में दोष बुद्धि न रखते हुए भजन करते हैं परन्तु इनका यह भजन भक्ति मार्गीय भजन नहीं होता है। इन मत्स्यादि रूप और रामादि रूप अवतारों का भजन किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए विहित धर्म मार्ग के अनुसार किया जाता है। जो देवता निःसंदिग्ध शांत स्वरूप वाले हैं उन्हीं का भजन पुरुषार्थ सिद्धि के लिये करते हैं। नृसिंहादि रूप का नहीं करते। किन्तु भक्तिमार्ग में तो प्रयोजन की गौणता के कारण तथा भजनीय विषय की प्रधानता के कारण प्रभु के प्रत्येक रूप, एक ही स्वरुप में, भजन करने योग्य है ॥२६॥

आभासः– रूपान्तरे भजनसामग्र्याः स्वरूपमाह—

आभासार्थ– अब रजोगुण तथा तमोगुण रूप में भजन सामग्री का स्वरूप बताते हैं—

श्लोक– रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान्भजन्ति वै ।
पितृभूतप्रजेशादीञ्छ्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥

श्लोकार्थ— धन, ऐश्वर्य तथा सन्तति की कामना वाले रजोगुण तमोगुण प्रकृति के जीव अपने समान स्वभाव वाले पितृ, भूत, प्रजेश आदि का भजन करते हैं ॥२७॥

सुबोधिनीः— रज इति । शरीरगुणस्वभावभेदेन गुणास्त्रिविधाः । तत्र स्वाभाविका अनुल्लङ्घनीयाः । शरीररूपा मौढ्यदशायामेव बलिष्ठाः । धर्मरूपास्तु सङ्गशास्त्रैर्वर्धन्ते क्षीयन्ते च । तत्र ये विवेकिनोऽपि सच्छास्त्रं सत्सङ्गं ज्ञात्वाऽपि स्वभावतो राजसास्तामसाश्च तादृशानेव भजन्ते । भजनं हि सख्यपर्यवसायि । तच्च समानरूप एव भवतीति समानशीलानेव भजन्त इति निश्चयार्थः । तयोः परिकरोऽपि तादृश इति ज्ञापयितुं पितरो भूतानि प्रजाश्च तेषामीशाः कालशिवब्रह्मरूपास्ते आदिभूता येषां तान् क्षुद्रदेवान्भजन्ते । तत्र श्राद्धादिना पितृभजने शक्तिभजने च धनप्राप्तिः फलम् । ईश्वरभजने त्वैश्वर्यप्राप्तिः । प्रजेशभजने प्रजायाः । तत्राऽपीप्सितैव प्राप्तिस्तु दुर्लभा । दातॄणां तामसत्वात् ।।२७।।

सुबोधिनी अनुवादः— शरीर, गुण और स्वभाव के भेद से गुण तीन प्रकार के होते हैं– इन स्वाभाविक गुणों का उल्लंघन कभी नहीं किया जा सकता। शरीर रूप जो गुण हैं वे मूढ दशा में ही बलवान होते हैं । गुण (धर्म) रूप जो गुण है वे संग से तथा शास्त्रों के श्रवणादि से बढ़ते है तथा नष्ट होते हैं इनमें जो विवेकशील होते हैं वे सत्संग तथा सत् शास्त्र को जान कर भी अपने अपने राजस तामस स्वभाग के अनुसार उसी प्रकार के राजस तामस का ही भजन करते हैं । भजन सख्यपर्यन्त माना गया है । अर्थात् समान स्वभाव तथा समान शील का ही भजन किया जाता है । सख्य, स्व समान में ही होता है । "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" । राजस स्वभाव वाले, राजस देवताओं का और तामस स्वभाव वाले तामस देवताओं का भजन करते हैं । इन तमोगुण रजोगुण वाले देवताओं का परिकर भी वैसा हो है । इस बात का निर्देश करने के लिये यहां पितृ-भूत-प्रजा और उनके स्वामी काल, शिव और ब्रह्मा जिनमें मुख्य हैं ऐसे क्षुद्र देवताओं का उल्लेख किया गया है– ऐसे देवताओं का भजन राजस-तामस जीव करते हैं ।

श्राद्ध आदि से पितरों तथा शक्ति को भजने से फलरूप से धन की प्राप्ति होती है । भूतेश महादेव के भजने से ऐश्वर्य रूप फल की तथा प्रजेश ब्रह्मा के भजन से सन्ततिरूप फल मिलता है । वहां भी ईप्सित फल की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि ऐसे फल के प्रदाता तामस हैं ।।२७।।

आभासः– एवं सत्त्वमूर्तौ भजनं सोपपत्तिकमुपपाद्य तत्रैव सर्वप्रमाणानां साधनानां च तत्रैव परिसमाप्तिरित्याह–**वासुदेवपरा वेदा** इति श्लोकद्वयेन—

आभासार्थ– इस तरह सत्वमूर्ति के भजन का युक्ति-पूर्वक उपपादन करके सत्वमूर्ति में ही प्रमाण और साधनों की समाप्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाण तथा सम्पूर्ण साधन सत्वमूर्ति की प्राप्ति के लिये ही है । सर्व प्रमाणगम्य भी वही है और सर्व साधनों से प्राप्तव्य भी वही है इसी का प्रतिपादन "वासुदेवपरा वेदाः" इत्यादि श्लोकद्वय से किया जाता है—

श्लोकः- **वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।**
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥

श्लोकार्थ— वेद, वेदार्थरूप यज्ञ, योग, स्नानादिक क्रियायें ज्ञान, तप, आचार और स्वर्ग ये सब वासुदेव परक हैं ॥२८-२९॥

सुबोधिनी– प्रथमाधिकारे सर्वगुणमयमिति ज्ञानं मुख्यम् । युक्तेः प्राधान्यात् । अतः सत्त्व-परत्वं सर्वेषामिति । तत्र वेदः सात्त्विकं प्रमाणम् । यज्ञाश्च सात्त्विकाः । योगाः स्नानादिकक्रियाश्च । ज्ञानं तप आचारःस्वर्गश्च सात्त्विकः । अन्यप्राधान्यप्रतिपादकानि तु शास्त्राणि न प्रमाणानि । किन्तु राजसानि तामसानि । एवं साधनान्यपि । एवं सर्वसात्त्विकभावः कर्त्तव्य इति प्रथमाधिकारः । एत एव मध्माधिकारे अन्यथा वक्तव्याः । उत्तमाधिकारे च । सर्वेषामेषां चाऽन्तःकरणशोधकत्वात्सत्त्वपरत्वम् । सुखफलत्वञ्च । सुखस्य सात्त्विकत्वाच्छुद्धान्तःकरणे स्फुरितब्रह्मानन्दस्याऽपि सात्त्विकत्वम् । सर्वाणि पञ्च शास्त्राणि श्रुति-साङ्ख्ययोग-पशुपति-वैष्णवाख्यानि मुख्यानि । अङ्गभूतं च धर्मशास्त्रं सर्वेषाम् । तत्रेदं वैष्णवं शास्त्रम् । पशुपतिमतं तु परमतोपन्यासेनोक्तमपेक्षितरूपेण प्रमाणं, न तु सर्वथा तत्र यावदन्येषां त्रयाणां धर्मशास्त्रस्य च नैकवाक्यता तावन्न वैष्णवशास्त्रस्य दार्ढ्यं मित्येकवाक्यता निरूप्यते । तत्र प्रथमं वेदः । वेदार्थो यज्ञश्च । तथा योगशास्त्रम् । यमादयश्च । तथा साङ्ख्यम् । तदुक्तं परम साधनं तपश्च । धर्मशास्त्रं तदुक्तोच्चगतिश्च । तदेतत्सर्वं वासुदेवपरमित्यर्थः ॥२८,२९॥

सुबोधिनी अनुवाद— सत्वगुण ही दोषों से मुक्त है– ऐसा ज्ञान प्रथमाधिकार में मुख्य है क्योंकि प्रथमाधिकारी युक्ति को ही प्रधानता देता है, तदनुसार जितने भी प्रमाण और साधन हैं वे सभी सत्वोपाधि रूप हैं। इनमें वेद सात्विक प्रमाण है। यज्ञ भी सात्विक है। योग स्नानादिक क्रियायें, ज्ञान, तप, शिष्टाचार और स्वर्ग ये सब सात्विक हैं। इसलिये सत्वगुण के अतिरिक्त राजस तथा तामस गुण की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र प्रमाण भूत नहीं हैं। क्योंकि वे राजस और तामस हैं। साधनों के लिये भी यही नियम है अर्थात् जो साधन राजस तामस हैं वे प्रमाण भूत नहीं हैं। इसलिये सर्वत्र सर्व में सात्विक भाव करना चाहिये और यही जीव का प्रथमाधिकार माना गया है। तात्पर्य यह है कि प्रथमाधिकार वेद, यज्ञ, योग, तप आदि में सर्वत्र सात्विक रखता है। उपरोक्त यही वेदादि मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के लिये अन्य प्रकार से कहे गये हैं। आशय यह है कि उपर्युक्त वेद। यज्ञ, योग, तप स्नानादि क्रियायें ज्ञान आदि

अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं तथा सुखरूप फल को देते हैं इसलिए इसमें सात्विक गुणमयता है। सुख, सात्विक रूप है इसलिये शुद्ध अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला ब्रह्मानन्द भी सात्विक रूप है। श्रुति, सांख्य, योग, पशुपति, वैष्णव- ये पांच शास्त्र मुख्य हैं। धर्मशास्त्र इन सबका अंगभूत है।

यहां यह भागवत–वैष्णव शास्त्र है। पशुपति शास्त्र तो केवल परमत का उपन्यास करने के लिए ही कहा गया है, इसलिये जितना भाग ग्रहण करने योग्य है उतना ही भाग प्रमाण है किन्तु समग्र प्रमाण नहीं है। इनमें वेद, सांख्य, योग तथा धर्मशास्त्रों की जब तक एक वाक्यता नहीं होती, जब तक वैष्णव शास्त्रों में दृढ़ता नहीं आती, इसलिये वेद, सांख्य, योग तथा धर्म शास्त्रों की एक वाक्यता का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम वेद वेदका अर्थरूप यज्ञ, योगशास्त्र, योगशास्त्र से कहे गये यम नियमादि, सांख्य (ज्ञान) शास्त्र तथा सांख्य शास्त्र में कहा गया परम साधन रूप तप, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र में कही गयी उत्तम गति, इन सभी का वासुदेव भगवान् में ही तात्पर्य है। ये सब वासुदेव परायण हैं। ।२८।२९।

आभासः—एवं सोपपत्तिकं फलसाधनस्वरूपं निर्णीतम्। तृतीयं कृष्णावतारप्रयोजनप्रश्नं प्रथमाधिकारादवतारतुल्यत्वेनाऽत्राऽनुक्त्वा पश्चादवतारेष्वेव कथयिष्यति। ततश्चतुर्थः प्रश्नः—"**तस्य कर्माण्युदाराणीति**" तत्रोत्तरमाह **स एवेदमिति** पञ्चभिः—

आभासार्थ—इस तरह युक्ति पूर्वक भगवत् साक्षात्कार रूप कल्याणकारी फल के स्वरूप का तथा भागवत से लेकर भगवत्कथा-रति पर्यन्त भगवत्प्रसाद की प्राप्ति कराने वाले साधन के स्वरूप का निर्णय किया। शौनक ने प्रथम अध्याय में छह प्रश्न पूछे थे— उनमें तृतीय प्रश्न से— श्री कृष्ण के अवतार का प्रयोजन पूछा गया था, किन्तु सूत पौराणिक तथा शौनकादिक का प्रथमाधिकार होने से उनको ऐसा ज्ञान है कि कृष्णावतार अन्य अवतार के समान ही है, इसलिये यहां कृष्णावतार की चर्चा न करके तृतीय अध्याय में अवतारों की कथा कहेंगे— तथा अवतार का प्रयोजन भी कहेंगे। तदनन्तर चतुर्थ प्रश्न से श्रीकृष्ण के उदारचरित्रों को कहिये यह पूछा गया था उसका उत्तर यहां "स एवेदं ससर्जाग्रे" आदि पांच श्लोकों से देते हैं।

श्लोकः– स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चाऽसौ गुणमय्याऽगुणो विभुः ।।३०।।

श्लोकार्थं—इसी निर्गुण सर्व समर्थ भगवान् ने गुणमयी तथा ऊंचे नीचे रूपवाली प्रतिकृति रूप इस सृष्टि को अपनी सर्वभवन सामर्थ्य-रूपा माया से सर्व प्रथम उत्पन्न किया ।३०।

सुबोधिनी-सृष्टिप्रवेशनानात्वभोगरक्षारूपाः पञ्च लीलाः क्रमेण पञ्चभिः प्रतिपाद्याः सगुण-निर्गुणयोर्भेदाभावाय । **स एवेति** सृष्टित्वगुणादेव । गुणत्रयेणाऽपि सृष्टो रजोमिश्रितेन । तमोमिश्रितेन त्रयेणाऽपि संहारः । तथा सत्त्वमिश्रितेन पालनमिति । शुद्धास्त्वधिष्ठातृदेवताशरीररूपाः । इदं जगत् । दृश्यस्य सर्वस्याऽपि जगतः कार्यत्वम् । नत्वाकाशादेर्नित्यतेति । अग्रे प्रथमम् । **"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** ति श्रुत्या साक्षात्सर्वकरणं प्रथमा सृष्टिः अन्येऽपि सृष्टिभेदाः सन्ति । ते निबन्धे निरूपिताः । **भगवानिति** वैष्णवशास्त्र एवेयं प्रथमा सृष्टिः । वैदिके तु स्वधर्मस्वशक्तिकालकर्मस्वभावानां सृष्टिः प्रथमा । अतोऽनन्तगुणपूर्ण एव भगवान् स्वस्य मायया शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मभूतं जगत्सृष्टवान् । मायायाः स्वरूपमाह— **सद्सद्रूपयेति** । सा ह्युच्चनीचसर्वप्रति-कृतिरूपा । तस्यामात्मानं संयोज्य प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते । एवं सति सुगमा सृष्टिर्भवति । सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत् । सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति । निद्राऽपि शक्तिः । सा जीवं भगवत्समीपे नयति । तत्र मायापर्यन्तं गमने स्वप्नः । भगवत्पर्यन्तं गमने सुषुप्तिः । पुनश्च सा यथास्थानमानयति । विद्या तु भगवत्समीपमेव नयति नाऽऽनयति । एवमनन्ताः शक्तयो भगवतः । वेदे तु मायासाधनराहित्यैनैव स्वत एवाऽऽत्मानं जगद्रूपं करोतीत्युच्यते । घटितपूरणपात्रभेदवद्वै-दिकपौराणिकजगतोर्भेदः । व्यलीकपक्षस्तु न प्रामाणिकः । चकारादन्येऽपि सृष्टिप्रकाराः सूच्यन्ते । असाविति भगवद्धर्मनिरूपणेन हृदये स्फुरितं भगवन्तं बहिः पश्यन्निवाऽङ्गुल्या निर्दिशति । स्वस्याऽनन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा गुणमयी भवति । तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिरा-शित्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणवाच्यता । अस्याः पुनः स्पर्शे न भगवति गुणाकृतित्वम् । अतः अगुणः प्राकृतगुणरहितः । कथं स्वसम्बन्धेनैव मायाया गुणवत्त्वम् । कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽप्यगुणः ? तत्राऽऽह—**विभुरिति** । सर्वसमर्थ इत्यर्थः ।।३०।।

सुबोधिनी अनुवाद- इन पांच श्लोकों में से "स एवेदं ससर्जाऽग्रे" में सृष्टि लीला का "तया विलसितेष्वेषु" में प्रवेश-लीला का "यथाह्यवहितो वह्नि" में नानात्व लीला का असौ-गुणमयी में भोग-लीला तथा 'भावयत्येष' में रक्षणलीला का निरूपण है । सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं है । यह बताने के लिए यथाक्रम पांच श्लोकों से पांच लीलाओं का निरूपण किया गया है । स एवं पद से यह तात्पर्य है कि सृष्टि निर्गुण से ही होती है क्योंकि प्रथम सृष्टि में निर्गुण से गुणों की सृष्टि बताई गई है । रजोमिश्रित तीन गुणों से भी सृष्टि होती है । तम से

मिश्रित तीन गुणों से संहार होता है तथा सत्व मिश्रित तीन गुणों से पालन होता है। गुणों के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश के शुद्ध रजोगुण, सत्वगुण तथा तमोगुण यथाक्रम शरीर रूप है।

यह संपूर्ण दृष्यमान जगत् कार्य है। आकाशादि भी कार्य हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं अतः ये नित्य नहीं हैं यह सर्व प्रथम सृष्टि है "अग्रे" शब्द से इसी का बोध किया गया है। 'एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच खं ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी, प्राण, मन, सर्व इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथिवी ये सब भगवान् से साक्षात् उत्पन्न होने वाली सर्वप्रथम अग्रे सृष्टि है। सृष्टि के अन्व बहुत से भेद हैं जिनका निरूपण तत्वार्थ–दीप निबंध ग्रंथ मैं किया गया है। वैष्णव शास्त्रों में ही इस प्राथमिक सृष्टि का निरूपण हुआ है– जिसमें मायाको इसका निमित्तकारण बताया है।

वेदों में तो स्वधर्म, स्वशक्ति तथा काल, कर्म, स्वभाव की सृष्टि ही प्रथम सृष्टि कही गई है। इसलिये अनन्त गुण पूर्ण भगवान् ने ही अपनी सर्वभवन सामर्थ्य रूप माया से इस आत्मरूप जगत् को उत्पन्न किया है।

यह माया सद्-असद् की अर्थात् ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप है। यही माया का स्वरूप है। इस माया में अपना संयोजन करके इसे अपना अधिष्ठान बना कर अपने आपको ही प्रकट करते हुए भगवान् ही जगत् रूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे स्वर्णकार सांचे में ढालकर प्रतिमा आदि सुगमता से बना लेता हैं, उसी तरह माया भी एक सांचा है जिसमें सद्-असद्, ऊंचे नीचे पदार्थ ढाले जाकर निर्माण किये जाते हैं, इस प्रकार सृष्टि का निर्माण सुगम बन जाता है। माया ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप हैं। माया का यही स्वरूप हैं जिसका निर्देश 'सदसद्रूपया' पद से किया गया है। यह माया भगवान् के पास ही रहती है। निद्रा भी भगवान् की शक्ति है यह निद्रा शक्ति जोव को सुषुप्ति दशा में भगवान् के पास ले जाती है। यहां जीव माया पर्यन्त गमन काल तक स्वप्नावस्था में तथा भगवत् पर्यन्त गमन काल तक निद्रित दशा में रहता हैं। यही निद्रा जीव को पुनः अपनी पूर्वावस्था में ले आती है। विद्या शक्ति जीव को भगवान् के निकट अवश्य ले जाती हैं किन्तु निद्रा शक्ति की तरह वह जीव को पुनः पूर्वावस्था मे नहीं लाती है। इस प्रकार भगवन् की अनन्त शक्तियां हैं

वेद मतानुसार वो माया रूप साधन का अवलंबन किये बिना ही भगवान् स्वयं ही अपने आपको जगत् रूप बनाते है, ऐसा कहा जाता है। इसलिये घड़े गये, ढाले गये पात्र की तरह वैदिक तथा पौराणिक जगत् में भेद है वस्तुतः ये दोनों ही भगवद्रूप हैं।

जगत् मिथ्या है, यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। श्लोकोक्त "च" कार से सृष्टि के और भी प्रकार हैं—यह निर्देश किया गया है। "असौ" पद प्रत्यक्ष का निर्देशक है। यहां भगवद् धर्म के निरूपण से हृदय में स्फुरित भगवान् को मानों बाहर ही देख रहे हों— इस तरह सूतजी अंगुली से निर्देश कर रहे हैं। अनन्त गुणवाले भगवान् के स्पर्श से माया भी उसी प्रकार की आकृतिमयी तथा गुणमयी हो जाती है, तथा गुणों के उत्तम-मध्यम तथा हीन भेदों द्वारा यह माया, सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी नामों से जानी जाती है। मायाकृत स्पर्श से भगवान् में गुणरूपता अथवा आकृतिरूपता नहीं आती। इसी का निर्देश यहां अगुणाः पद से किया हैं। भगवान् प्राकृत गुणों से रहित है— माया के स्पर्श से सगुण नहीं है।

यहां शंका होती हैं, भगवान् के स्पर्श से माया तो गुणमयी हो गई, किन्तु माया में प्रविष्ट होकर तथा जगद्रूप होकर भी भबवान् निर्गुण ही रहे !!! यह कैसे? इसका समाधान यह है कि भगवान् विभुः अर्थात् सर्व समर्थ हैं वह माया को सगुण बनाते हुए भी स्वयं निर्गुण ही रह सकते हैं ।।३०।।

आभासः—एवं सद्रूपेण जडसृष्टिमुक्त्वा, आनन्दरूपेणाऽन्तर्यामिसृष्टिमाह—

आभासार्थः—इस तरह भगवान् के सत् रूप से जड़-जगत् की उत्पत्ति कह कर उसी भगवान् के आनन्द रूप से अन्तर्यामी की सृष्टि को कहते हैं—

श्लोक तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ।।३१।।

श्लोकार्थ—भगवान् की अपनी इस माया शक्ति द्वारा आकार को प्राप्त करके विचित्र प्रकार से प्रकाशमान इन देव मनुष्यों की देहों में पंच महाभूतों में तथा गुणों में अन्तर्यामी रूप से अन्तः प्रविष्ट होकर वह भगवान् सर्वत्र प्रकाश करते हैं और मानों (वह भगवान्) गुणवान् की तरह प्रतीत होते हैं। भगवान् स्वयं सर्वज्ञ अन्तर्यामी रूप से अन्दर प्रवेश करके जीव को उसके विविध कार्यों में प्रेरित करते हैं और उसमें विविध ज्ञान का स्फुरण करते हैं। इस प्रकार भगवान् अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विज्ञान द्वारा प्रकाशमान होते हैं।

सुबोधिनीः—तयेति। तया मायया। आकारसमर्पणेन विलसितेषु चित्रितेषु देवादिदेहेषु। भूतेषु च। गुणेषु येषु परिदृश्यमानेषु गुणवानिव। तेषां तेषां तत्र तत्रैव प्रवर्तनात्। खदिराङ्गार-रक्तिमेव अन्तः प्रविष्टः स एवाऽऽभाति, अयोगोलकनिविष्टाग्निवद्बहिरपि स्फुरति। आ समन्ता-द्भाति। चिज्जडांशयोर्ज्ञानशक्तितिरोभावोऽस्ति। तद्वदत्राऽपि भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **विज्ञानेन**

विजृम्भित इति । अत्राऽन्तर्यामिणः सर्वज्ञस्य जीवं सर्वत्र प्रेरयतस्तद्विधज्ञानवतः कार्यावेशेन स्फुरणमिव विजृम्भा । तद्वानित्यर्थः ।३१।

सुबोधिनी अनुवाद:—प्रतिकृति-सांचा रूप होने से माया आकार की समर्पक है। इस माया से आकार समर्पण द्वारा मानों चित्रित से गुणात्मक देवादि देहो में तथा पंच महाभूतों में दृश्यमान गुणों में प्रविष्ट वह अन्तर्यामी भगवान् गुणवान् की तरह प्रतीत होता है। वस्तुतः वह प्राकृत गुणों से रहित है, क्योंकि उन उन गुणों की प्रकृति अमुक अमुक जगह ही उसके द्वारा होती हैं। खदिर के अंगार की लालिमा की तरह भीतर प्रविष्ट वही अन्तर्यामी भगवान् सामान्य जीवों में प्रकाशित (यत्किंचित्) होता है (यहां आभाति के आङ्प्रत्यय का ईषद् यत्किंचित् अर्थ है)। विशिष्ट जीवों में अयोगोलक में प्रविष्ट अग्नि के समान इसी अन्तर्यामी भगवान् की बाहर भी स्फूर्ति होती है– चारों ओर स्फूर्ति होती है। चिदंश जीव तथा सदंश जड़ में ज्ञान शक्ति का जिस तरह तिरोभाव देखा जाता है, उसी तरह आनन्दांश अन्तर्यामी में भी ज्ञान शक्ति का तिरोभाव होना चाहिये। इस शंका का उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी विज्ञान से प्रकाशित है, विज्ञानेन विजृम्भितम्। यहां सर्व जीवों को सर्वत्र प्रेरित करने वाला विविध ज्ञान युक्त जो अन्तर्यामी है वह कार्य में आविष्ट होने से उस उस ज्ञान का प्रकाशक भी है अर्थात् वह अन्तर्यामी ज्ञानयुक्त भी है और उन उन जीवों को उनउन कार्यो में प्रवृत्त भी करता है– प्रेरक भी वही है और नियामक भी वही है ।३१।

आभासः—एवमन्तर्यामिभावं निरूप्य जीवभावं निरूपयन्नानात्वलीलामाह—

आभासार्थः—इस प्रकार अन्तर्यामी भाव का अर्थात् अन्तर्यामी रूप से जगत् प्रवेश लीला का निरूपण करके जीव भाव का विवेचन करते हुए प्रभु की अनेक भवन लीला को कहते हैं अर्थात् जिसमें एक होते हुए भी भगवान् बहुरूप धारण करते हैं– ऐसी भगवल्लीला का प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक– यथा ह्यवहितो वन्हिर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वाऽऽत्मा भूतेषु च तथा पुमान् ।।३२।।

श्लोकार्थः—अपने उत्तपत्ति– स्थल अनेकों काष्ठों में छिपा हुआ एक ही अग्नि अनेक जैसा प्रतीत होता है। उसी तरह पंचमहाभूत और उनसे उत्पन्न हुए पदार्थों में जीव रूप से प्रविष्ट वह विश्वात्मा भगवान् ही अनेक की तरह प्रतीत होता है ।३२।

सुबोधिनीः—यथेति । **"अवस्थितेरिति काशकृत्स्न"** इतिवत्केनचिद्रूपेणाऽवस्थितो भगवानेव जीव इति तद्रूपमुच्यते । दारुषु यथा वह्निस्तथा भूतभौतिकेषु जीवः । स चैकः । उपाधिव्यतिरेकेण स्वतो वैलक्षण्याभावात् । यथा मथनव्यतिरेकेण काष्ठेष्वग्निर्न प्रतीयते तथा योगव्यतिरेकेणाऽन्तःकरणे जीवः । यथा करचरणाद्यवयवः शरीरेभ्यो न भिद्यन्ते, तथा महाकाष्ठे सर्वत्रैक एव विद्यमानो मथनस्थानेषूद्गच्छति । तथा प्रतीयते च भेदः । स च न प्रामाणिकः । महाकाष्ठ एकस्यैव वह्नेः सिद्धत्वात् । तथा काष्ठबहुत्वेऽप्यनुमन्तव्यम् । एवं सर्वेषु देहेषु सर्वेषु भूतेषु च तिरोहितः समवस्थितः स जीव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । यत्र हि आविर्भवति तत्र तिष्ठतीति निश्चितम् । योगेन ज्ञानेन वाऽयं सर्वत्र आविर्भवति । अतस्तानि भूतानि योनिरूपाणि । तेष्वेक एव वह्निर्नाना प्रतीयत इत्यर्थः । किञ्च । विश्वाऽऽत्मा चाऽयम् । विश्वस्यैकमेव हि स्वरूपम् । एकवचनप्रयोगात् । तस्याऽऽत्मा कथमनेको भवेत् । उपाधिभेदाद्भेद इव प्रतीयते । चकाराद्भौतिकेषु । किञ्च । पुमानयम् । ब्रह्माण्डविग्रहः स्वराट् पुरुष एक एव सर्वत्र ब्रह्माण्डे । तस्य चाऽवयवभूतानि मध्यस्थानि भूतानि भौतिकानि च । तेषां भेदप्रतीतावपि पुरुषो न भिद्यते । यथा करचरणादिषु नानाभेदप्रतीतावपि नाऽधिष्ठातुर्भेदः । तथा सर्वत्र ब्रह्माण्डे पुरुषस्येत्येक एव सर्वत्र गुप्तो नानेव प्रतीयमानो जीव इत्युक्तं भवति ।।३२।।

सुबोधिनी अनुवादः—अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः—१–४–२२ ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्न के मतानुसार यहां प्रतिपादन किया गया है । इस मतानुसार किसी भी रूप में अवस्थिति करने वाले भगवान् ही जीव है— जीव भगवान् का रूप है । काष्ठ में जैसे अग्नि है उसी तरह पंचमहाभूतों मे तथा उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थो में वह विश्वात्मा भगवान् जीव रूप में स्थित है । वह ईश्वर एक है । उन उन उपाधियों के कारण भेद प्रतीत होता है किन्तु भेद प्रामाणिक नहीं है । उपाधि–रहित जीव स्वतः भगवान् से विलक्षण नहीं है । केवल विभिन्न शरीर रूप उपाधि के भेद से ही वह विलक्षण बन गया है । जिस प्रकार मंथन किये विना काष्ठ में अग्नि की प्रतीति नहीं होती, उसी तरह योग के विना अन्तःकरण में जीव की प्रतीति नहीं होती । जिस प्रकार हाथ पैर आदि अवयव शरीर से भिन्न नहीं हैं उसी तरह महाकाष्ठ में सर्वत्र एक रूप से विद्यमान अग्नि जहां मंथन किया जाता है वहां ही मंथन स्थान में प्रकट होता है । इसी प्रकार जीव भगवान् का अंश होने से उससे भिन्न नहीं हैं । तथापि भेद की जो प्रतीति होती है वह प्रामाणिक नहीं है । जैसे एक ही विशालकाष्ठ में सर्वत्र एक ही अग्नि है वैसे अनेको काष्ठों में भी वह अग्नि एक ही है, यही व्यवस्था जीवों की है । इसी तरह सर्वदेहों में तथा सर्वपंचमहाभूतों में गुह्य रूप से तिरोधानतया जो समवस्थित है वह जीव है– यहां "हि" अव्यत्र का यही अर्थ है । यहां काष्ठ के दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जिस काष्ठ में अग्नि प्रकट है उसी काष्ठ

में वह प्रकाशमान रहता है। जड़ में चिदंश का तिरोभाव होने से वहां जीव का प्रकाश नहीं है। वह जीव योग से अथवा ज्ञान से जड, चेतन सब में प्रकट हो सकता है। इसलिये जैसे अग्नि का उत्पत्ति स्थान काष्ठ है उसी तरह जीव के प्रकट होने का स्थान समग्र पंचमहाभूत है उनमें काष्ठ में अग्नि के समान एक ही जीव पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। और यह जीव विश्वात्मा है अर्थात् समग्र विश्व का यह एक ही स्वरूप हैं। और इसीलिए श्लोक में भी विश्वात्मा इस तरह एक वचन का ही प्रयोग किया गया है, क्योंकि एक ही जगत् की आत्मा अनेक कैसे हो सकती है? किन्तु उपाधि के भेद से मानो पृथक् पृथक् हो ऐसा प्रतीत होता है। भूतेषुच– में चकार का अर्थ है पंचमहाभूतों से बने हुए शरीर आदि में भी वह पृथक् पृथक् दिखाई देता है। यह जीव (पुरुष) है। अर्थात् सर्वत्र ब्रह्माण्ड में वह ब्रह्माण्ड विग्रह वाला पुरुष एक ही अपने आप प्रकाशित है– स्वराट्। इस ब्रह्माण्ड के पंचमहाभूत और इनसे उत्पन्न संपूर्ण भौतिक पदार्थ– इसके अवयव रूप हैं। ये समग्र पदार्थ पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं तथा यह पुरुष अनेक नहीं है। एक ही है। जिस तरह हाथ पैर आदि में विविध प्रकार की विभिन्नता दिखाई देती हैं फिर भी शरीर में स्थित जीव का कोई भेद नहीं है। इसी तरह समग्र ब्रह्माण्ड में विराट् पुरुष का भेद नहीं है। इसलिए सर्वत्र ब्रमाण्ड में छिपा हुआ एक ही विराट् पुरुष विश्वात्मा भगवान् जब नानारूप में प्रतीत होता है तब वह जीव कहलाता है।

आभासः—तद्रूपेणैव भोगलीलेत्याह—

आभासार्थः— वही विश्वात्मा भगवान् जीवरूप से लीला करता है उसी को कहते हैं—

श्लोक– असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेतु तद्गुणान् ।।३३।।

श्लोकार्थं— वही विश्वात्मा भगवान् सदंश से निर्मित पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा इन्द्रिय समूह तथा अंतःकरण द्वारा बनायी गयी सृष्टि में प्रविष्ट होकर देव, तिर्यक्, नर आदि प्राणियों में (पुरुषार्थ-चतुष्टयका) भोग करता है।३३।

सुबोधिनी—असाविति। चतुर्विधा हि सदंशसृष्टिः। अन्तःकरणमिन्द्रियाणि तन्मात्राणि भूतानि चेति। तानि त्रिगुणात्मकानि। गुणमयत्वकथनात्स्वांशरूपता निरूपिता। तैर्निर्मितेषु देवतिर्यङ्नरादिषु भूतेषु नितरां विष्टः अनध्यासे स्थितो भुङ्क्ते विषयानात्मसात्करोति। भोग-मुत्तरत्र स्पष्टीकरिष्यामः। एतावता भोगसृष्टिभेद उक्तो भवति। साक्षात्सृष्टेः पूर्णनिरूपणात्

मायाकरणकत्वाच्चाऽपि हेतुभूतादीनां करणत्वं कर्तृत्वं वा। स्वस्विन्निर्मितेषु, स्वार्थं वा निर्मितेषु, स्वेन वा निर्मितेष्विति। गुणास्त्रयः। तत्र सात्विकमन्तःकरणं, सात्विकराजसानीन्द्रियाणि, राजसतामसानि तन्मात्राणि, तामसानि भूतानि चेति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतुर्द्धा भेदः। देहेन धर्मः। तन्मात्रैरर्थः। इन्द्रियैः कामः। अन्तःकरणेन मोक्ष इति। तत्र जीवस्यैकत्र मुख्यतया स्थितौ अन्ये ह्यङ्गभावं प्राप्नुवन्ति। अतएव तद्गुणान् चतुर्विधपुरुषार्थरूपान् भुङ्क्त इत्युक्तम् ।३३।

सुबोधिनी अनुवाद:— अन्तःकरण इन्द्रियां, पंचतन्मत्रायें तथा पंचमहाभूत इस तरह भगवान् के सदंश से यह चार प्रकार की सृष्टि है। ये अन्तःकरण आदि गुणमय अर्थात् त्रिगुणात्मक कहलाते हैं। गुण भगवान् के अंश हैं इसलिये यह चतुर्विध सृष्टि भगवान् की अंशरूप है। अन्तःकरण आदि से निर्मित देवता, पक्षी तथा मनुष्यों में प्रविष्ट भगवान् अनाध्यासतया स्थित होकर विषयों का उपभोग करता है अर्थात् में भोग करता हूं— इस प्रकार के अध्यास (भ्रम) से रहित होकर विषयों का उपभोग करता है— विषयों को अपने स्वाधीन करता है। भोग क्या है ? यह इससे आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस इतने निरूपण से भोगसृष्टि का भेद कहा गया है। साक्षात् सृष्टि के भोग का निरूपण इससे पूर्व कर चुके हैं।

स्वयं भगवान् ही सृष्टि रूप बन जाते हैं और माया को करण बनाकर सृष्टि वनाते हैं। इन दोनों का ही निरूपण किया जा चुका है। यहां स्वनिर्मितेषु का अर्थ तीन प्रकार से किया जा सकता है— स्वस्मिन् निर्मितेषु १ अपने में बनाई गई सृष्टि में, स्वार्थं निर्मितेषु— २ अपने लिये बनाई गई सृष्टि में, स्वेन निर्मितेषु— ३ अपने से निर्मित सृष्टि में— इस प्रकार के अर्थ से ईश्वर में कर्त्तव्य आता हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंचमहाभूत आदि का भगवान् करण भी है और कर्त्ता भी है।

गुण तीन है, सत्व रज और तम। ऊपर कहे गये अन्तःकरण आदि में अन्तःकरण सात्विक है, इन्द्रियां सात्विक-राजस हैं, रूपरस आदि तन्मात्रायें राजस-तामस हैं और पंचमहाभूत तामस है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये सृष्टि का चार प्रकार से भेद कहा है। अर्थात् देह से धर्म होताहै, तन्मात्राओं से अर्थ सिद्ध होता है, इन्द्रियों से काम सिद्ध होता है और अन्तःकरण से मोक्ष सिद्ध होता है। जीव को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से किसी एक में जब दृढ़ अध्यास हो जाता है तब अवशिष्ट तीनों उसके अंग बन जाते हैं।

हैं। 'तद्गुणान्' इसलिये चारों प्रकार के पुरुषार्थों को वह भगवान् जीव रूप से भोगता है ।३३।

आभासः—एवं भोगलक्षणलीलामुपपाद्य तत्सिद्धये पालनलक्षणलीलामाह—

आभासार्थः—इस प्रकार भोगलीला का उपपादन करके, भोगसिद्धि के संपादनार्थ पालन लीला का वर्णन करते हैं—

श्लोक– भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ।।३४।।

श्लोकार्थ—यह भगवान् देव, पशु-पक्षी तथा मनुष्यादि में लीलावतार धारण करके जीव के पीछे पीछे रहते हुए भिन्न भिन्न प्रकृति के प्राणियों में प्रीति रखते हैं तथा जीव से अभिन्न रह कर यही भगवान् लोक की सर्वदा चिन्ता रखते हुए उनके दुःख दूर करते हुए उनका पालन करते हैं। भगवान् अपने विभिन्न अवतार-चरित्रों द्वारा सर्वलोक को मुक्ति का दान करने के लिये उनको सात्विकता से सम्पन्न करते हैं ।३४।

सुबोधिनीः—**भावयतीति**। भावयति पालयति एष एव जीवरूपेण अभिन्नः। पालने सत्त्वगुण एक एव करणम्। लोकान्भुवनजनरूपान्। अथवा। सत्त्वेन भावयति। सत्त्वयुक्तान् करोतीत्यर्थः। उभयत्र हेतुमाह—**लीलावतारानुरत इति** अवतारैर्दैत्यानां वधं विधाय सर्वलोकान् पालयति। अवतारैश्चरित्राणि विधाय सर्वांल्लोकान् सत्त्वयुक्तान् करोति मुक्तये। ननु सत्त्वमात्रेण कथं मुक्तिः? अवतारैर्वा कथं पालनम्? तत्राऽऽह— **लोकभावन इति**। लोकैर्भावनं यस्येति मुक्तिप्रकारः। अवताराणामविद्यमानदशायामपि भावनयैव सर्वानिष्टानिवृत्तेः पालनमित्यर्थः। अथवा। लोकान्भावयतीति। सर्वदा लोकानां चिन्तया तेषामेव दुःखनिवारणाय अवतारान्कृत्वा पालयतीत्यर्थ। ननु कथं तमःप्रकृतिषु लीलेत्यत आह— **अनुरत इति**। यथा जीवास्तत्र तत्र रताः। रतिव्यतिरेकेण तादृशशरीराभावात्। तदनु स्वयमपि रत इत्यर्थः। देवादयः सत्त्वादिभेदाः। आदिशब्देन मिश्रभेदाः। अनेनाऽनुक्तेष्वपि सर्वेषु भगवदवतारा ज्ञातव्या। वक्ष्यति च–"**अवतारा ह्यसङ्ख्येया**" इति। देवेषु वामनः। तिर्यक्षुमत्स्यादयः। नरेषु रामादयः। मिश्रेषु नृसिंहादय इति ।३४।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

सुबोधिनी अनुवादः—जीवरूप से अभिन्न यह भगवान् ही लोक का पालन करता है। पालन करने में सत्त्व गुण ही साधन रूप है। लोकशब्द से यहां समग्र भुवन तथा मनुष्य दोनों ग्रहण किये गये हैं। अथवा भगवान् इन जीवों को सत्त्व युक्त बनाते हैं। लोकों का पालन करने में और सत्त्व युक्त बनाने में हेतु यह है कि अवतारों द्वारा दैत्यों का वध करके सब लोकों का पालन करते हैं अथवा अपने विभन्न अवतारों से विभिन्न लीलाएं करके सर्व लोकों की मुक्ति के लिये उनको सत्त्व युक्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व गुण को ग्रहण करके भगवान् जो अवतार धारण करते हैं उन अवतारों से दैत्यों का संहार करके सबका रक्षण करते हैं अथवा ऐसे चरित्र करते हैं जिससे अन्य प्राणी भी यदि उन चरित्रों की भावना करें तो वे भी सत्व युक्त बन कर मुक्त हो जाते हैं।

यहां शंका होती है कि सत्व मात्र से मुक्ति कैसे मिल सकती है? अथवा अवतारों से पालन कैसे संभव है? इसके उत्तर में कहते हैं— "लोकभावन:" अर्थात् लोकैर्भावनंयस्य– सर्व लोक इसकी भावना करते हैं। इस तरह की यह भावना करना मुक्ति का प्रकार है। इस तरह भावना करने से मुक्ति मिल जाती है। अर्थात् अवतारों की उनुपस्थिति में भी भावना करने से ही सर्व अनिष्ट की निवृत्ति होती है और अनिष्ट की निवृतिरूप में पालन होता है। अथवा सर्व लोकों की चिंता के कारण उनके दुःख दूर करने के लिये अवतार धारण करके उनका पालन करते हैं।

यहां शंका होती है— मत्स्यादि तामस प्रकृति के अवतारों में भगवान् कैसे लीला कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि– "अनुरत:" अभिप्राय यह है कि जीव अनेक प्रकार के हैं। किसी की सत्वावतार में, किसी की रजोगुणावतार में और किसी की तमोगुणावतार में आसक्ति होती है। अतः उनकी आसक्ति (रति) के अनुसार सात्विक राजस तथा तामस में भगवान् अवतार लेते हैं। विना लोक–रति के भगवान् ऐसा शरीर धारण नहीं करते। लोकों की अनुरक्ति देख कर भगवान् स्वयं भी तदनुरक्ति अनुसार उसी रूप में रत हो जाते हैं, उसी रूप में अवतरित होते हैं।

देव, तिर्यङ्तथा नर– ये सात्विक, राजस तथा तामस हैं— "देवतिर्यङ्नरादिषु" में जो आदि पद है उससे सात्विकादि के मिश्र भेद लिये गये हैं। जैसे– सात्विक तामस, राजस तामस,

राजस सात्विक इत्यादि इत्यादि। इन मिश्र भेदों के लेने से देवतिर्यङ्नरादि में अनुरक्त अन्य सभी में भी भगवान् के अवार होते हैं- यह समझ लेना चाहिये। इसी का निर्देश करने के लिये अग्रिम प्रसंगों में भगवान् के अवतार असंख्य हैं– अवताराह्यसंख्येयाः– ऐसा कहा गया है।

देवताओं में वामन, तिर्यङ्में मत्स्यादि, मनुष्यों में राम आदि तथा मिश्रों में नृसिंह आदि अवतार हैं। नृसिंहावतार मनुष्य तथा सिंहाकृति का होने के कारण मिश्रावतार है।३४।

इस प्रकार श्रीमद्लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्रीवल्लभ दीक्षित विचरित श्रीमद्भागवत सुबोधिनी प्रथमस्कंध का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

